दक्षिण एशिया में नव- उपनिवेशवादः भारत के विशेष सन्दर्भ में

(Neo-Colonisation in South Asia with Special Reference to India)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल०
उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोधकर्ता

अनूप कुमार श्रीवास्तव

निर्देशक
डा. मुहम्मद शाहिद
वरिष्ठ प्रवक्ता

राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
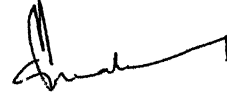
2002

Dr. Mohammad Shahid,
Sr. Lecturer,
Department of Political Science,
Allahabad University,
Allahabad.

CERTIFICATE

This is to certify that the present work "दक्षिण एशिया में नव- उपनिवेशवादः भारत के विशेष सन्दर्भ में (Neo-Colonisation in South Asia with Special Reference to India)" has been presented after meticuluous effort in the shape of D.Phil Thesis under my supervision by Anoop Srivastav. I recommend for the submission of the same.

I wish him success.

(Dr. Mohammad Shahid)
Supervisor.

Dated : Allahabad,
20 December, 2002.

Residential Address : 174/G-2, Mehdauri- Allahabad, 211004.
Phone : 0532/2546647

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रभुत्व की प्रवृत्ति प्रत्येक मानव की प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रवृत्ति है। इसका वृहत् रूप एक देश द्वारा दूसरे देश पर प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश के रूप में देखा जा सकता है। प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति साम्राज्यवाद के नाम से जानी जाती है।

शक्ति के बल पर किसी देश की राजनीतिक सम्प्रभुता का अधिग्रहण करना ही साम्राज्यवाद है। परन्तु साम्राज्यवाद का परम्परागत रूप बदल चुका है। राजनीतिक साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, धार्मिक साम्राज्यवाद। साम्रज्यवाद के विभिन्न रूप हैं। आज आर्थिक साम्राज्यवाद एक सामान्य शब्द हो गये है जो पुराने साम्राज्यवादी देशों की नीतियों को लागू करने के लिए किया जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व परिदृश्य में व्यापक परिवर्तन आया जिससे विभिन्न नव-सम्प्रभु देशों का अभयुदय विश्व राजनीतिक मंच पर हुआ। यह नवोदित राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गये पर आर्थिक रूप से इनके पास तंगी, बदहाली, बेरोजगारी, सामाजिक रूप से अशिक्षा, जातिवाद, नस्लवाद एवं सीमा विवाद सौगात के रूप में मिले। इन सभी समस्याओं को पुरानी साम्राज्यवादी ताकतें आज भी भुना रही हैं जो राजनीतिक शब्दावली में नव-उपनिवेशवाद के रूप में पहचाना जाता है।

इस शोध प्रबन्ध में नव उपनिवेश का अर्थ, उसकी प्रकृति, उसे क्रियान्वित करने की तकनीकी तथा उसका विकसित तथा

अल्पविकसित देशों के मध्य सम्बन्ध का विस्तृत विवरण है जो कि एक चुनौती पूर्ण कार्य है। चुनौती कैसी भी हो, चुनौती दूर हो जाती है, यदि गुरू की कृपा हो जाय तो। निश्चय ही हमें इस शोध-कार्य को सम्पन्न करने गुरू की असीम कृपा एवं सहयोग मिला।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का प्रारम्भ और अन्त मेरे परमादरणीय गुरू **डा० मुहम्मद शाहिद** के दिशा निर्देशन में सम्भव हो सका है। इस शोध प्रबन्ध के एक-एक शब्द की रचना में मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ है, जिनका मूल्यांकन करने में अपने आपको मैं असमर्थ पा रहा हूँ , क्योंकि कोई ऐसा शब्द मेरी शब्दावली में है ही नहीं जिनके सहारे मैं उनके इस कृत्योपकार के प्रति आभार व्यक्त कर सकूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान के विभागाध्यक्ष डा० आलोक पन्त का मै ऋणी हूँ जिनका आर्शीवाद मुझे बराबर मिलता रहा। विभाग के अन्य अध्यापकगण जैसे डा० दिवाकर कौशिक तथा डा० फरीदुद्दीन काज़मी का विशेष रूप से ऋणी हूँ और उन्हें आभार व्यक्त करता हूँ।

यह शोध प्रबन्ध मेरे मित्र *चन्द्र भूषण पाण्डेय* एवं *गोपाल कृष्ण मिश्र* की ही देन है। उनके असीम प्रेम असीमित प्रेरणा और भ्रतृत्वपूर्ण डांटफटकार का ही परिणाम है कि मैं आने वाली समस्त बाधाओं, समस्याओं का निदान उन्होंने ईश्वरीय सहजता के साथ किया।

इस शोध कार्य को सम्पन्न करने में समय-समय पर तमाम तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसका निदान हमारे बड़े भाई श्री कुलदीप नारायण श्रीवास्तव एवं प्रदीप श्रीवास्तव के द्वारा

होता रहा है। इसमें मेरी आदरणीया भाभी जी (श्रीमती श्रीवास्तवा) एवं हमारी भतीजी पूजा का भी अनुपम सहयोग रहा है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विभाग बेनी प्रसाद स्मारक पुस्तकालय के लाइब्रेरियन *फिरोज अहमद* एवं *नदीम* जी का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने हमें हर क्षण अपना सहयोग प्रदान किया। गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान झूंसी के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री तिवारी जी का भी आभारी हूँ जिनका विशेष सहयोग मुझे इस शोध प्रबन्ध में प्राप्त हुआ। शोध के समयबद्ध प्रकाशन के लिए मैं श्री फरहान वकील उर्फ टीटू को भी धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में मैं अपने माताजी (श्रीमती धन्ना देवी) एवं पिताजी (श्री रामजी सहाय श्रीवास्तव) के प्रेरणा एवं आशीर्वाद का सदैव ऋणी हूँ, जिनके असीम कृपा से यह कार्य सम्भव हो सका।

अनूप श्रीवास्तव

दिनांक 20–12–2002

अनूप श्रीवास्तव

अध्याय-एक
ऐतिहासिक परिदृश्य

प्रथम अध्याय

एतिहासिक परिदृश्य

एशिया-भौगोलिक परिचय

विश्व के महाद्वीपों में एशिया सबसे बड़ा है, जिसका भूक्षेत्र सारे विश्व का एक तिहाई है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी लम्बाई आर्कटिक घेरे से थोड़ा ऊपर भूमध्य रेखा के नीचे तक 5000 मील है। पूर्व से पश्चिम तक 5500 मील से अधिक क्षेत्र में फैला हुआ है। इसकी तटीय रेखा 35000 मील लम्बी है। एक तरफ हिमालय पर्वत संसार का उच्चतम पहाड़ है तथा दूसरी तरफ दूर दूर तक फैला हुआ रेगिस्तान तथा बंजर भूमि है प्रायः हर प्रकार की जलवायु भारत में पायी जाती है। भूमध्यरेखीय वर्षा प्रधान मलेशिया से लेकर बर्फानी वाले नोवाया-जैमलेया जलवायु तक (Almost every Known climate occurs in Asia, from the equitorial rainly types of Malaysia to the ice held climate of Noveya-Zemlya George Geasey) जनसंख्या के हिसाब से एशिया में सारे विश्व की

जनसंख्या का 3/5 भाग रहता है। लगभग 2.5 अरब लोग चीन, भारत, बंगलादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका, नेपाल तथा भूटान में रहते है।[1]

पामर तथा पर्किन्स लिखते हैं,-

> "एशिया के वर्तमान पर उनका भूतकाल अधिक हावी है। इसका भूतकाल लम्बा तथा भिन्नता से भरा है। इसका इतिहास प्राचीन काल के सबसे अधिक समाजों में शुरू होता है। शायद विश्व्र की पहली सभ्यता मिस्र, मेसोपोटामिया, फारस, सिंधु घाटी तथा उत्तरी पूर्वी की चीन की थी। भारत तथा चीन की सभ्यता विश्व की प्राचीनता सें सम्बन्ध रखने वाली सभ्यतायें हैं"।

अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति के संदर्भ में एशियाई महाद्वीप के पॉच मुख्य क्षेत्र हैं। मध्यपूर्व/पश्चिम एशिया, दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, सुदूर पूर्व, पूर्वी एशिया तथा रूसी एशिया। इन पांचों में से प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधों में एक इकाई का प्रतिनिधित्व करता है। समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की बहुत सारी समस्याओं तथा विषयों के उत्केंद्र (Epicentres) इन पाचों क्षेत्रों में हैं।

शताब्दियों से एशिया में राजनीतिक तथा सामाजिक अस्थिरता बनी रही और करीब पिछले तीन शताब्दियों से सह पश्चिमी साम्राज्यवाद के ज़ालिम पंजों में बंधा रहा। बीसवीं शताब्दी के शुरू होने के बाद ही बहुत सारें एशियाई देशों विशेषतया भारत ने साम्राज्यवाद के विरूद्ध कठिन जंग शुरू कर दिया। फिर 1947 में यूरोपीय साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने में भारत सफल होसका तथा 1949 में चीन पश्चिमी शक्तियों साम्राज्यवादी नीतियों के परिणामस्वरूप भूतकाल में भुगते हुए

[1] Palmer & Perkins-" अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहार एंव सिद्धांत से उद्धृत पेज 68

शोषण को समाप्त करने के लिये प्रतिबद्ध साम्यवादी शक्ति के रूप में उभर आया। 1947 में भारत की स्वतंत्रता के पश्चात 1949 में चीन में साम्यवादी क्रांति की सफलता दोनों ने मिलकर एशिया के पुनरूत्थान प्रक्रिया शुरू कर दी। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के 25 वर्षों के अन्दर-अन्दर ही सारा एशिया साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने में सफल हो गया। परन्तु एशिया के वर्तमान पर उसका भूतकाल साम्राज्यवाद के विभन्न स्वरूपों में आज भी हावी है।

अपने प्राचीन मूल्यों तथा परम्पराओं के साथ प्यार के कारण उपा उठने में एशिया की सफलता इसके विकास तथा समृद्धि पर भारी पड़ी। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में औद्योगिक क्रांति के प्रभाव ने तेज़ी से विस्तार करना शुरू कर दिया तो एशिया ने अपनी प्राचीन व्यवस्था से चिपके रहने का निर्णय किया। जिसका परिणाम यूरोप की तुलना में अविकासशीलता निकला। यमासेप की बढ़ती हुई अधिक शक्ति तथा यूरोप में बहुत शक्तिशाली राज्यों के प्रादुर्भाव ने एशिया में युरापीय साम्राज्यवाद के युग का श्रीगणेश कर दिया। केवल 100 वर्षों के काल में ही युरोपीय राज्य प्रायः सभी एशियाई राष्ट्रों पर अपना नियंत्रण लादने मे सफल हो गये। धीरे-धीरे जापान, थाईलैण्ड नेपाल तथा चीन को छोड़ कर प्रायः सारा एशिया युरोपीय साम्राज्वाद के शिकंजे में आ गया। यहां तक कि ये पॉचों देश भी ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल तथा अमरीका की शोषण करने वाली नीतियों के प्रभाव से स्वतंत्र होने में सफल न होसके।[2]

चीन की विदेश नीति भारत के विरूद्ध चीन पाकिस्तान ध्रुव का प्रादुर्भाव एशियाई देशों के बीच समस्याओं तथा विरोधों के विषयों में

प्रादुर्भाव, एशिया देशों के बीच समस्याओं तथा विरोधों के विषयों में अभिवृद्धि,नव-उपनिवेशवादी शक्तियों की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति, मध्यपूर्व, दक्षिण एशिया, इंडो-चीन क्षेत्र तथा सुदृढ़ पूर्व में विरोधों का उत्पन्न होना आदि इन सभी ने मिलकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एशिया की भूमिका को सीमित कर दिया। अरबों के बीच फूट,ईरान तथा ईराक में निरंतर विरोध खाड़ी युद्ध के बाद उत्पन्न हुई परिस्थिति, लेबनान में गृह युद्ध, फिलिस्तीन की समस्या, भारतीय उपमहाद्वीप पर शस्त्र दौड़ को प्रोत्साहित करने की संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति के कारण भारत जैसे बहुत से एशियाई देशों पर बढ़ता दबाव, SAARC की धीमी प्रगति, कम्बोडिया तथा अफगानिस्तान मे अस्थिरता की समस्या, हिंद महासागर में प्रतिद्वंदिता, चीन तथा पाकिस्तान द्वारा परमाणु ब्लैकमेल का डर एशियाई राज्यों का धीमा तथा सीमित विकास आदि इन सब ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एशिया की भूमिका को सीमित कर रखा है।[3]

भारत का संक्षिप्त भौगोलिक विवरण

पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई यह प्रश्न भूगोल के लिए आज भी विवादस्पद बना हुआ है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि आज से लगभग 4 अरब 60 लाख वर्ष पूर्व पृथ्वी और सौर मण्डल का आस्तित्व नहीं था। उसके स्थान पर एक विशाल तारा था जिसमें एकाएक विस्फोट हुआ और इसके परिणामस्वरूप अलग-अलग ग्रहों को अस्तित्व मिला। वर्तमान में उन्हीं ग्रहों में से एक पुथ्वी है और उस विशाल तारा का बचा हुआ अंश सूर्य है। आज लगभग 3.5 अरब वर्ष

[3] यु. आर. घई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार पृष्ठ. 169

पूर्व अनेक प्राकृतिक क्रियाओं द्वारा पृथ्वी मानव के निवास योग्य बन सकी। इस पृथ्वी का एक भाग भारत है। यह एशिया महाद्वीप के दक्षिणी प्रायद्वीप में अवस्थित है।[4] पृथ्वी के उत्तरी गोलार्द्ध में 8^0 4′ उत्तरी अक्षांश से 37^0 6′ उत्तरी अक्षांश तथा 68^0 7′ पूर्वी देशान्तर से 97^0 25′ पूर्वी देशान्तर के बीच 3287782 वर्ग किसी क्षेत्रफल पर विस्तृत भारत हिन्द महासागर के उत्तर में स्थित है। 82 ½ पूर्वी देशान्तर इसके लगभग मध्य से होकर गुजरात है जो कि देश का मानक समय भी है। पूर्व से पश्चिम तक इसकी लम्बाई 2,933 किमी. तथा उत्तर से दक्षिण तक लम्बाई 3214 किमी. है। इसकी स्थलीय सीमा की लम्बाई 7616.6 किमी. है। मुख्य स्थलीय भाग की समुद्री सीमा की लम्बाई 6200 किमी है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत विश्व का सावतॉ बड़ा देश है। भारत का धुर दक्षिणी भाग भूमध्य रेखा से 876 किमी. दूर है।

प्राचीन काल में आर्यो की भारत नाम की शाखा द्वारा हिमालय पर्वत के दक्षिणी भाग के अनार्यो को पराजित करके उस भूभाग का नाम भारत शाखा के नाम पर ही भारत वर्ष रखा गया। कालान्तर में ईरानियों ने इसे हिन्दू तथा देश को हिन्तुस्तान कहा जबकि युनानियों ने सिन्धु नदी को इन्डस और उस देश को जहां यह नदी प्रवाहित होती है 'इण्डिया' नाम दिया। वर्तमान समय में यही देश विश्व में 'भारत' एवं 'इण्डिया' दोनों नाम से जाना जाता है।

इसकी आकृति पूर्णतः त्रिभुजाकार न होकर चतुष्कोणीय है एवं यह भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित है। कर्क रेखा इसके लगभग मध्य भाग से होकर गुजरती है। देश का मानक समय ग्रीर्नाविच मीन टाइम से 5 घण्टा 30 मिनट आगे है। इसका सबसे दक्षिणी बिन्दु अन्दमान

---

[4] एम. 'एन' एम ईयर बुक 1994 पृ. 248

निकोबार द्वीपसमूह में स्थित है जिसको वर्तमान में इन्दिरा प्वाइन्ट के नाम से जाना जाता है। देश सम्प्रति 28 राज्यों तथा 7 केन्द्र शासित प्रदेशों का एक संघ है। इसकी प्रादेशिक जल सीमा आधार रेखा से मापे गये 12 समुद्री मील की दूरी तक है, जबकि संलग्न क्षेत्र की दूरी प्रादेशिक जल सीमा के 24 समुद्री मील तक है। देश का एकान्तिक आर्थिक क्षेत्र संलग्न क्षेत्र के आगे 200 समुद्री मील तक है, जिसमें वैज्ञानिक शोधकार्यो को करने तथा कृत्रिम द्वीपों का निर्माण एवं प्राकृतिक संसाधनों का दोहन की छूट मिली हुई है।

यद्यपि देश का क्षेत्रफल विश्व के कुल क्षेत्रफल का मात्र 2.42 प्रतिशत ही है किन्तु यहां पर विश्व की लगभग 16 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। यहां की प्रकृतिक बनावट एवं मानव संसाधन क्षमता आदि के देखते हुए जार्ज बी. क्रैसी ने अपनी भौगोलिक पुस्तक Asia's Land and People में लिखा है कि "भारत को महाद्वीप कहलाने का उतना ही अधिकार है जितना कि युरोप को।"[5]

देश की सीमाएं प्राकृतिक एवं मानव निर्मित दोनों प्रकार की हैं। भारत के निकटतम पड़ोसी देश है- पाकिस्तान, अफगानिस्तान, चीन, नेपाल, म्यान्मार तथा बंगलादेश। श्रीलंका भी पाक जलसन्धि द्वारा अलग हुआ हिन्द महासागर में स्थित पड़ोसी देश है। भूटान जैसा पड़ोसी देश एक विशेष सन्धि द्वारा भारत पर निर्भर करता है एवं इसकी प्रतिरक्षा, विकास आदि कार्यो का उत्तर दायित्व भारत पर ही है। पाकिस्तान की सीमा को स्पर्श करने वाले भारतीय राज्य है- जम्मू-कश्मीर, पंजाब, राजस्थान तथा गुजरात जबकि अफगानिस्तान की सीमा मात्र जम्मू-कश्मीर राज्य को स्पर्श करती है। भारत एवं चीन की

---

[5] युनीक पब्लिकेशन नयी दिल्ली सामान्य अध्ययन से उद्धृत पृ. डी/143

सीमा से सटे राज्य-जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, सिक्किम तथा अरूणाचल प्रदेश हैं। अरूणाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मणिपुर तथा मिजोरम की सीमाएं उत्तर पूर्व स्थित म्यान्मार को स्पर्श करती है। बंगलादेश एवं भारत की सीमा से लगे भारतीय राज्य-मिजोरम, त्रिपुरा, असम, मेघालय तथा पश्चिम बंगाल हैं। इस प्रकार भारत की स्थिति काफी महत्वपूर्ण है एवं हिमाचल पर्वत माला तथा हिन्द महासागर ने इसको एक मजबूत सुरक्षा घेरा प्रदान किया है।[6]

तेरहवीं शताब्दी में मुस्लिम विजेताओं के साम्राज्य स्थापित करने से भारत में एक नयी संस्कृति ने प्रवेश किया। इस प्रक्रिया से एक जटिल स्थिति पैदा हुई, यद्यपि इससे भारतीय समाज के जातीय एवं आर्थिक आधार में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। उद्योग एवं व्यापार की पद्धति में कोई आधारभूत परिवर्तन नही हुआ और वे ज्यों के त्यों चलते रहे। हिन्दू और मुस्लिम समाज का दो वर्गों- अधिकारी सम्पन्न, भूस्वामी शासक वर्ग, तथा प्रशासन कार्यो में विभाजन कायम रहा। राजनीतिक प्रणाली में भी कोई अन्तर नही आया। प्रशासन और जनता का सम्बन्ध कच्चे धागे से बंधा था, क्योंकि प्रशासन का कार्यक्षेत्र सीमित था, जैसे कि प्रतिरक्षा के विचार से और अव्यस्था को रोकने के लिए एक सेना खड़ी करना, और सेना का खर्च उठाने के लिये करों की उगाही करना आदि। विधि निर्माण उसके कार्य क्षेत्र से बाहर था। इसी प्रकार न्याय विभाग का अधिकांश भाग उसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता था। विधान निर्मात्री संस्थाएं नहीं थी और दीवानी तथा

[6] युनीक पब्लिकेशन, सामान्य अध्ययन भूगोल डी/143

व्यक्तिगत मामले अधिकतर गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा निपटाए जाते थे।

धार्मिक क्षेत्र में निम्न वर्ग- अन्ध विश्वासों में डूबा हुआ था जबकि अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग पर इस्लाम का प्रभाव कम पड़ा था। परन्तु हिन्दू मुसलमानों में विचारों का आदान प्रदान हुआ और फलतः हिन्दुओं में कई नये मतों तथा सम्प्रदायों ने जन्म लिया। साहित्य और कला के क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का बहुत अधिक सम्मिश्रण हुआ। कानून के क्षेत्र में परस्परिक आदान प्रदान कम हुआ यद्यपि सांस्कृतिक सामंजस्य हुआ पर वर्ग और सम्प्रदाय के कठोर सांचे में जकड़े होने के कारण राष्ट्रीय चेतना जागृत नही हो पायी। न तो राज्य ने इस चेतना को बढ़ावा दिया और न ही आर्थिक एवं सामाजिक विकास ने प्रादेशिक देशभक्ति या व्यक्ति की समस्त देशवासियों के साथ एकरूपता की भावना को बढ़ावा दिया।[7]

भारत की भौगोलिक स्थितियों में विद्यमान विषमताओं, देश की विशलता, आवामगन और संचार साधनों की प्राचीनता ने अतीत में भारतीय प्रदेशों में पृथक्करण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया और राष्ट्रीयता की भावना को पनपने नहीं दिया भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक एकता की कमी थी। सांस्कृतिक एकरूपता तथा राजनीतिक प्रभुसत्ता भी भारत के विभाजित करने वाले अवरोधों - जैसे दलों, समाजों, जातियों एवं ग्रामों को प्रभावित न कर सकी। जाति ग्राम संस्थाएं एकीकरण का अटूट विरोध करती रहीं। जाति एक सामाजिक धार्मिक संस्था थी लेकिन इसका आर्थिक महत्व भी था। समाज यदि सामाजिक धार्मिक दृष्टि से भिन्न रूप से जुड़ी जातियों का समूह था तो

[7] तारा चन्द्र भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, पृ. 3-4.

राजनीतिक आर्थिक दृष्टि से वह उन गाँवों का पुंज था जो उनकी आर्थिक तथा प्रादेशिक इकाइयां थे। भारतीय गॉव की इस समय वही स्थिति थी जो आरम्भिक मध्य युगीन युरोप में अंग्रेजी मेनर अथवा फ्रान्सीसी सिन्गयुरी की थी। गाँव आर्थिक यन्त्र का धुरी था। और कृषि उद्योग तथा व्यापार उसके चारों ओर घूमते थे। ये यूरोप के मध्य युगीन ग्रामों से भिन्न थे क्योंकि वहां ग्रामों के क्रिया कलाप केवल कृषि तक सीमित थे भारत में नगर परोपजीवी थे और राजनीतिक सत्ता या धर्म के केंद्र थे भारतीय ग्राम ही समाज की सक्रियता का केंद्र बिंदु था।[8]

मध्यकाल में भारतीयों के सामाजिक संगठन में विशेष प्रगति नहीं हुई। धर्म का छोटे छोटे सम्प्रदायों और मण्डलियों के रूप में विभाजन बना रहा। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता का अभाव था। मुसलमान तो पठान, तूरानी, तथा इरानी वर्गो में बंटे रहे और हिन्दू विभिन्न जातियों उपजातियों तथा कबीलों में। मुगल साम्राज्य जिस वजह से अपनी अंखड़ता की रक्षा करने में असमर्थ रहा वही आधार अंग्रेजों की सफलता का आधार थी। मराठों ने जो भारत में अंग्रजो का सफलतापूर्वक सामना कर सकते थे, गलत विदेशनीति का अनुरक्षण किया और विभिन्न प्रकार के शुल्क वसूल करके तथा लूट–खसोट से राजपूतों जाटों और बुंदेलों को अपना शत्रु बना लिया। मराठा नेताओं की असफलता ने विदेशियों के लिए भारत का मार्ग खोल दिया।[9]

सन् 1498 में जब वास्को–डि–गामा कालीकट के बन्दरगाह पर उतरा तब एशिया और युरोप के सम्बन्धों में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। विज्ञान के नये आविष्कारों, मानव की प्रतिष्ठा और

---

[8] राम लखन शुक्ला, ‘ आधुनिक भारत का इतिहास’, पृ. 15.

[9] वही।

समाज-संगठन के नये आदर्शों तथा भौतिक उन्नति और राष्ट्रीय शक्ति की नयी कल्पनाओं से प्रेरित होकर एक नये जीवन और आत्मविश्वास-पूर्ण युरोप पूर्व के सबसे समृद्ध देश में जा पहुँचा।

अकबर महान के समय का अपार वैभव सम्पन्न देदीप्यमान संस्कृति वाला भारत अठारहवीं शताब्दी में अपनी ताकत खो चुका था। वह मुगल साम्राज्य के नाममात्र के प्रभुत्व के नीचे गाँवों, जातियों या उपजातियों, कबीलों और ताल्लुकों का एक मध्य युगीन जड़पिंड मात्र रह गया था। भारतीय अर्थ-व्यवस्था कृषिप्रधान थी उसकी कार्यप्रणाली अत्यन्त पुरानी थी, उसका संगठन संकुचित था, उसका लक्ष्य गुजारे के लायक चीज़ों का उत्पादन करना था। भारत का उद्योग बहुत छोटे पैमाने का था और उसका मूल उद्देश्य अमीरों के लिए विलास सामग्री बनाना या स्थानीय बाज़ार की मामूली जरूरतों को पूरा करना मात्र था। इसके विपरीत युरोप समुद्रपारीय बाजारों का विकास कर रहा था वह अमेरिका से सोने चाँदी के खजाने ला रहा था जिससे उद्योग और वाणिज्य को नवजीवन मिल रहा था। तेजी से बढ़ती हुई पूँजी के दबाव से विशेषज्ञता का विकास हो रहा था और व्यापारी और बैंकर भूस्वामी कुलीन वर्ग पर छाए जा रहे थे। जो क्रान्तिकारी वैज्ञानिक आन्दोलन युरोप को नयी खोजों और अविष्कारों के लिए उकसा रहा था वह भारतीय मानसिकता को प्रभावित न कर सका। युरोप जिन भावों से अनुप्राणित होकर अराजक सामंतवादी समाज से एक सुसंगठित ठोस राष्ट्र में पदार्पण कर रहा था, भारत उन भावनाओं से अछूता था। युरोप में धर्म के स्थान पर तर्क का युग चल रहा था जबकि भारत के उच्चतम मनीषी इस लोक के बजाय परलोक की बात सोचते थे। यद्यपि भारतीय माल उच्चकोटि का था और समकालीन मानदण्ड से विकसित

था, लेकिन भारतीय उद्योग और प्रौद्योगिकीकरण में वैज्ञानिक रूप से कोई परिवर्तन और आधुनिकीकरण नहीं हुआ। यातायात की कठिनाइयों और ग्रामों के स्वावलंबी होने का यहां के व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा, चूंकि भूमि राजस्व और धन का स्रोत मानी जाती थी अतः शासकों ने समुद्र पार व्यापार और जलसेना की उपेक्षा की।

जिस मुग़ल साम्राज्य ने समकालीन विश्व को अपने विस्तृत प्रदेश, विशाल सेना तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों से चका चौंध कर दिया था, अठारहवीं शताब्दी के अन्त में वह अवनति की ओर जा रहा था। औरंगज़ेब के बाद अगले बावन वर्षो में आठ सम्राट दिल्ली के सिंहासन पर बैठे। साम्राज्य को अनेक व्याधियों ने घेर लिया और मुगल साम्राज्य जर्जरित हो गया। अब स्थायी प्रान्तपति अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में संलग्न हो गये। निज़ामुलमुल्क ने दक्षिण में जाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और वहां मराठों से मिलकर साम्राज्य के विरूद्ध कुचक्र चलाने लगा। अलीवर्दी ख़ाँ ने बंगाल में और सआदत खाँ ने अवध में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली और साम्राज्य के विरूद्ध विदेशी आक्रमणकारियों की सहायता करने लगा। मुगल साम्राज्य की विश्रृंखलता से लाभ उठाकर सिक्खों ने पंजाब में और मराठों ने महाराष्ट्र में अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ कर दी और मराठे सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रभावशाली हो गये। इसी बीच कई विदेशी शक्तियां भारत में व्यापार करने आयाी और उनमें से कुछ ने भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। अट्ठारहवीं शताब्दी में भारत ब्रिटेन के अधीन हो गया और पहली बार इतिहास में भारत एक ऐसी विदेशी शक्ति द्वारा शासित होने लगा जो हजारों मील

की दूरी से उस के शासन की बागडोर को संभाले थी और उसके भविष्य का निर्णय कर रही थी।

अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल साम्राज्य का ढांचा चरमराने लगा और समय बीतने के साथ-साथ उसके पतन की गति भी तीव्र हो गयी। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का शासन की आर्थिक स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा। राजस्व घट गया, संचार साधन लडखड़ा गये और उद्योग तथा कृषि का स्वरूप क्षेत्रीय हो गया, केन्द्र-विरोधी शक्तियां हावी होने लगी, न्याय और व्यवस्था बिगड़ गयी, व्यैक्तिक एवं सार्वजनिक नैतिकता हिल गयी, साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये और विदेशी आक्रमणों तथा आंतरिक शत्रुओं का मुकाबला करने की उसकी शक्ति टूट गयी।

पतन के कगार पर खड़ा मुगल साम्राज्य अंग्रेजी खतरे की चुनौती का सामना न कर सका। भारत में कोई भी देशी शक्ति मुगलों की विरासत संभालने योग्य नहीं था। हालांकि वे सभी मुगल साम्राज्य को क्षीण करने के लिए उत्तरदायी अवश्य थे। ये देशीशक्तियॉ कोई ऐसी नयी सामाजिक व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकती थीं जो पाश्चात्य शत्रुओं का सामना कर सके। उन सबमें वही कमजोरी थी जो मुगल साम्राज्य की विशेषता थी। इसलिए भारतीय राज्य भी युरोपीय लोगों की उच्च्व आर्थिक व्यवस्था और प्रौद्योगिकी का सामना न कर सके।[10]

लगातार युद्ध और कानून और व्यवस्था के भंग होने से अठारवीं सदी में भारत के आंतरिक व्यापार की क्षति हुई और कुछ क्षेत्रों में विदेशी व्यापार में भी विघटन हुआ। कई स्वतंत्र राज्यों और प्रान्तीय शासनों की स्थापना से चुंगीधरों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे व्यापार

---

[10] बिपिन चन्द्र, **Modern India,**

की हानि हुई। सामंतों की बढ़ती हुई कंगाली से भोग विलास के उस सामग्री के उत्पादन पर भी प्रभाव पड़ा जिसका वे इस्तेमाल करते थे। कई समृद्ध शहर जो औद्योगिक रूप से उन्नतिशील थे, लूटमार का शिकार होन से उजड़ गये। दिल्ली नादिरशाह द्वारा, आगरा जाटों द्वारा, सूरत, गुजरात और दक्कन के कई नगर मराठों के हाथों तबाह हो गये। फिर भी कुछ क्षेत्रों में युरोपीय व्यापरियों द्वारा व्यापार में वृद्धि हुई।[11]

मुगल कालीन भारतीय प्रौद्योगिकी सैनिक और आर्थिक व्यवस्था और खानों की इन्जिनियरी अविकसित थी। लोहे को जमीन के बहुत अन्दर से नहीं वरन सतह से निकाला जाता था। भारतीयों को कोयलों की जानकारी नहीं थी। युरोप में भारी उद्योगों के लिए ढलवा लोहे का उत्पादन किया जा रहा था जबकि भारत में इस क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई और लोटा ढालने की विधि से भारतीय अपरिचित थे। मुगल सरकार इस कमी से अवगत थी इसलिए उसने बड़ी संख्या में युरोपीय तोपची नियुक्त किए और युरोपीय तोपों का भी आयात किया 1666 में सम्राट के आदेश पर अंग्रेजों और डचों से पॉच गन फाउन्डरों तथा दो इन्जिनियरों की मुगल सेना के लिए माँग की गयी थी।[12]

नौसंचालन (Navigation) :

भारतीय अब तक केवल वेधयन्त्र (Astrolabe) का प्रयोग करते थे। जबकि युरोपीय दूरबीन और पहले से अच्छे और नये मार्ग, निर्देशकों का प्रयोग कर रहे थे।1648 में ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने

---

[11] Bipin Chandra, **Modern India**, Delhi 1973,
[12] Irfan Habib, **The Technology and Economy of Mugal India**, p. 30.

भारतीय बढ़इयों के सहयोग से जहाज निर्माण का कार्य आरम्भ किया। ये जहाज प्रायः युरोपीय जहाजों की तुलना में अच्छे थे लेकिन भारतीय नौचालक युरोपीय नौचालकों की भांति कार्यकुशलता और उपकरणों के प्रयोग में दक्षता हासिल न कर सके। भारतीय परिवहन भी इस समय अविकसित था। मुगलकालीन भारत में राहगीरों के पास सस्ता और शीध्रता से यात्रा करने का कोई साधन नही था। यद्यपि मुगलकालीन सड़के चौड़ी थी, सड़को के दोनों ओर वृक्ष लगे होते थे, बीच-बीच में सराएं बनी हुई थी, लेकिन सड़को की उपरी परत बहुत खराब थी और बरसात में इन सड़को पर आना जाना असम्भव था।

मुगलकाल में उर्जा और ईधन के बारे में भी कम जानकारी थी, जबकि युरोप में पवन चक्की और पन चक्की दोनों प्रचलित थी टामस रो के अनुसार भारतीय नदियों का पानी मौसम से प्रभावित होने के कारण उन नदियों पर पनचक्की नही बन सकती थी। यद्यपि युरोप और चीन में इसका प्रयोग हो रहा था प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अविकसित होने से भारत के भविष्य पर बहुत प्रभाव पड़ा और भारतीय अपने से योग्य और कार्यकुशल शक्ति के सामने नतमतस्क हो गये।[13]

वाणिज्य और व्यापार की स्थिति '1500-1750'

भारतीय अर्थव्यवस्था मूलरूप से ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की शुरूआत तक वही थी जो मध्यकाल में थी। पुर्तगालियो के आगमन से पूर्व भारत में सस्ते वस्त्र का काफी व्यापार होता था और कई देश भारत के वस्त्र उत्पादन पर पूर्ण रूप से आश्रित थे भारत की अन्य

[13] Ibid.

निर्यात वस्तुओं में काली मिर्च, नील, अफीम तथा औषधियों का प्रमुख स्थान था। भारत का मुख्य आयात सोना चाँदी था। यद्यपि व्यापार पर कोई रोक नहीं थी, लेकिन मालाबार में अरबों को अधिक प्रोत्साहन मिला था। व्यापार व्यक्तिगत रूप से होता था लेकिन पुर्तगालियों के आने से स्थिति में अन्तर आ गया। मंडियों का विस्तार हुआ और आशा अन्तरीप होकर समुद्री मार्ग से अधिक मात्रा में माल भारत से युरोप को निर्यात किया जाने लगा। भारतीय वाणिज्य व्यवस्था की अपर्याप्तता से युरोपीय कम्पनियों की भारतीय वस्त्रों की मांग पूरी नही हो रही थी। भारतीय राजनीतिक शक्तियों और व्यापारिक वर्गो ने पुर्तगाली व्यापारिक चुनौती के प्रति कोई प्रतिक्रिया भी नही व्यक्त की।

जब विभिन्न एकाधिकार प्राप्त युरोपीय व्यापारिक कम्पनिया भारत आयी तो वे भारत के विदेशी व्यापार पर अपना-अपना एकाधिकार स्थापित करने में लग गयीं। ये नयी कम्पनियां मुख्यतः विक्रेता थी, इसलिए अब वे भारतीय व्यापार का एकमात्र एकाधिकार भारतीय शासकों से प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगीं।

सत्रहवीं सदी में भारतीय व्यापार की मात्रा में काफी वृद्धि हुई। अंग्रेज व्यापारी भारत से वस्त्र नील और शोरा ले जाते थे। कुछ समय बाद डच और अन्य युरोपीय व्यापारी भी एशियाई व्यापार के अलावा युरोप की मंडियो में रूचि लेने लगे। भारतीय उत्पादक पहले कुछ खास फसलें सामंतों के दबाव से ही उगाते थे, अब उन्होंने व्यापारियों के लिए भी फसलों में परिवर्तन किया।

यद्यपि भारतीय व्यापारीगण और औद्योगिक वर्ग धनी थे, वे भारत के सभी क्षेत्रों में फैले हुए थे और उनका आर्थिक क्षेत्र पर भी प्रभाव था, लेकिन उनकी राजनीतिक शक्ति नहीं के बराबर थी।

सरकार निरंकुश एवं सामंती थी। ऐसे शक्तिशाली मध्य वर्ग का अभाव था जो शासन का बागडोर अपने हाथों में ले सके- जैसा पश्चिमी संसार में हुआ। भारतीय जनता निर्जीव, निरूत्साही और चापलूस हो गयी थी।

औपनिवेशिक शक्तियों का क्रमवार अध्ययन

मध्य यूरोपीय मण्डियों में भारतीय माल की भारी माग थी। यह माल या तो स्थल मार्ग से युरोप पहुँचता था या थोड़ा स्थल और समुंद्री मार्गों से। तुर्की लोगों की शक्ति बढ़ जाने से बाधाएं पैदा हो गयी। स्थल मार्ग के व्यवहारिक रूप में बढ़ जाने के कारण नये मार्ग के खोजने की आवश्यकता पड़ी।[14] गजनी, गौर और समरकन्द के मुसलमानों ने स्थल मार्ग से आकर इस देश पर आक्रमण किया था। मुगल साम्राज्य ने अपना आधिपत्य कायम रखने के लिए एक बड़ी स्थायी सेना रखी और इस प्रकार सावधानी बरती। किन्तु एक मजबूत जलसेना का निर्माण कर समुद्र मार्ग की रक्षा के महत्व को महसूस करने में मुगल चूक गये। आधुनिक काल की भारतीय शक्तियों में केवल मराठों ने इस ओर प्रयत्न किया। समुद्र को पार कर यूरोप की व्यापारिक जातियां, भारत आयीं जिन्होनें अन्ततः भारतीय इतिहास को एक नया मोड़ दिया।

स्मरणातीत काल से ही भारत का पश्चिम के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था किन्तु 7वीं सदी ई. से इसका सामुद्रिक व्यापार अरबों के हाथों में चला गया, जिनकी हिन्द महासागर और लालसागर में तूती बोलने लगी वेनिस और जेनेवा के साहसी सौदागर उन्ही से भारतीय

[14] वी. डी. महाजनः आधुनिक भारत का इतिहास

माल खरीदने लगे। 15 वीं सदी के अंतिम चर्तुथांश की भौगोलिक खोजों का संसार के विभिन्न देशों के व्यापारिक सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा इनके इतिहास में महत्वपूर्ण परिणाम आयें। बार्थोलोम्यू डियाज 1487 ई. में उत्तमाशा अन्तरीप पहुँच गया, जिसने उसे तुफानी अन्तरीप कहा। वास्को डीगामा ने भारत के एक नये मार्ग का पता लगाया और 14 मई 1498 को कालीकट के प्रसिद्ध बंदरगाह पर पहुच गया। शायद मध्य काल की किसी घटना ने सभ्य जगत पर इतना प्रभाव नही डाला, जितना भारत के सामुद्रिक मार्ग के खुल जाने पर पड़ा।''[15]

पुर्तगालियों के बाद अन्य यूरोपीय समुदायों का भारत में आगमन हुआ और शीघ्र ही भारत के तटवर्ती एवं सामुद्रिक व्यापार पर यूरोपवासियों ने एकाधिकार स्थापित कर लिया। पूर्ववर्ती विदेशी व्यापारी केवल वाणिज्यिक उद्देश्य से भारत आयें थे और उन्हें अपने सरकारों का कम या बिल्कुल समर्थन प्राप्त नही था लेकिन परवर्ती काल में भारत आने वाले यूरोपीय व्यापारियों को राजनीतिक एवं सैनिक समर्थन प्राप्त था इसके अलावा वे केवल मात्र व्यापारी ही नही थे अपितु अपने-अपने राष्ट्रों का भी प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होनें अपने श्रेष्ठ नौसैनिकों के बल पर अपने सामुद्रिक व्यापार को स्थापित करने और उनको सुरक्षित करने का यथा सम्भव प्रयत्न किया। सैनिक शक्ति उनके वाणिज्यिक उद्यम का मेरूदण्ड थी। प्रारम्भ से ही यूरोपीय वाणिज्यिक कम्पनियों ने स्थानीय शक्तियों के नियंत्रण से दूर, भारत के तटवर्ती नगरों पर अपने सशक्त व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिए। समय के साथ-साथ वाणिज्यिक उद्देश्य क्षेत्रीय महत्वकाक्षां में बदल

[15] भारत का वृहत्त इतिहास-दत्त एण्ड मजूमदार, पृ. 2.

गये, जिसने भारत को विदेशी दास्ता के शिकन्जें में जकड़ दिया। निःसन्देह 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में पुर्तगालियो, डचों और अंग्रेजो की त्रिपक्षीय भागीदारी के कारण भारत के विदेशी व्यापार में आश्चर्यजनक प्रगति हुई लेकिन यह बुझते द्वीप की अंतिम लव मात्र थी।[16] 18 वीं सदी के अन्त तक भारत जो एक बड़ा निर्यातक देश था, औद्योगिक उत्पादित वस्तुओं का सबसे महान आयातक बन गया। इस प्रकार युरोपीय वाणिज्य का प्रारम्भ भारत की मध्य युगीन वाणिज्यिक स्मृद्धि और भारत में लगभग दो सदी लम्बे ब्रिटिश शासन के दौरान औपनिवेशिक शोषण एवं इसके परिणाम स्वरूप गरीबी के मध्य एक सेतु था। भारत में यूरोपीय औप- निवेशिक एवं वाणिज्यिक विस्तार के भारत के अनेक चरणों का वर्णन पूर्तगाली, अंग्रजों एव फ्रासीसियों के सन्दर्भ में अलग-अलग किया जा सकता है।

पुर्तगाली उपनिवेशवाद

सातवीं शताब्दी में पश्चिम जगत के साथ भारत के समुद्री व्यापार का संचालन अरब व्यापारी करते थे जो यूरोपीय बाजार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इटली में वेनिस और जेनोवा के व्यापारियों को माल बेचते थे। 15वीं सदी के अन्तिम दशक में स्पेनियों और पुर्तगालियों द्वारा भौगोलिक खोजो से इस व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हो गयी। धीरे-धीरे हिन्द महासागर एवं लाल सागर मे अरबी लोगों का सामुद्रिक व्यापार पुर्तगालियों के अतिक्रमण से ठप हो गया। 1497 में वास्को डिगामा को भारत को सीधे सामुद्रिक मार्ग की खोज के लिए

[16] वी. के. अग्निहोत्री , पृ. 240.

लिस्बन से भेजा गया। उस समय मालाबार तट छोटे-छोटे हिन्दू शासकों के मध्य विभाजित था। उनमें से कालीकट का शासक, जिसकी पैतृक उपाधि जमारिन थी, ने इन नवागन्तुकों का स्वागत किया। कलीकट के अरब व्यापरी इस व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता से प्रसन्न नही थे, लेकिन जमोरिन के सशस्त्र अंगरक्षको ने पूर्तगालियों की रक्षा की।

पुर्तगालियों का भारत आगमन स्थान एवं समय दोनों दृष्टियों से अनुकूल था। मालाबार तटवर्ती प्रदेश एक ओर श्रीलंका, मलक्का और मसाले के द्वीपों और दूसरी ओर फारस की खाड़ी, लाल सागर और पूर्वी अफ्रीका के मध्य सरायं की भांति था। विजय नगर साम्राज्य का भटकल और हुन्नावर के तटीय नगरों पर नियत्रण था लेकिन उसने तटीय राजाओं के विषय में हस्तक्षेप नही किया। बहमनी साम्राज्य का एक उत्तराधिकारी बीजापुर था जिस का गोवा के तटीय क्षेत्र पर शासन था लेकिन उसके पास भी नवसैनिक शक्ति का अभाव था पूर्तगालियों ने बीजापुर के विरूद्ध शक्तिशाली समुद्री लुटेरों के सरदार तिमोज और हुन्नावर, वाकीपूर और भटकल के हिन्दू राजाओं जो विजय नगर के सामान्त शासक थे के साथ मित्रता की।[17]

कोचीन मालाबार तट के सभी बंन्दरगाहों में सर्वश्रेष्ठ था, क्योंकि यह लागूनो या समुद्रो, तालो ठहरे जलों, सकरी घाटी द्वारा आस-पास के कालीमिर्च उत्पादक जिलो से जुड़ा हुआ था। इसका शासक जमोरिन के अधीन था। दूसरा महत्वपूर्ण बन्दरगाह क्विलों था जहां से चीन अरब और अन्य देशों के साथ व्यापार होता था फ्रेगानोर और केन्नानोर के बन्दरगार नाम मात्र के लिए जमोरिन के अधीन थे, वास्तव में यह स्वतन्त्र थे।

---

[17] वही.

वास्कोडिगामा की पहली समुद्री यात्रा से पूर्वी अफ्रीकी बन्दरगाहों के अरब व्यापारियों में उग्र क्रोध का जन्म हुआ, जो शीघ्र ही मालाबार तट के अरब एवं मोपला व्यापारियों में फैल गया। अलबारेज कैब्रल के नेतृत्व में द्वितीय पुर्तगाली अभियान 1500 ई. में कालीकट पहुँचा, इसने बन्दरगाह से एक अरबी जहाज को पकड़ कर जमोरिन को उपहार स्वरूप भेंट किया। अरबों ने पूर्तगालियों के फैकट्रियों पर धावा बोल दिया और इनके निवासियों को मौत के घाट उतार दिया, कैब्रल ने बदले की भावना से गोलाबारी की और अरबों की लकड़ी के मकानों में आग लगा दी।

क्रैबल ने निजी सुरक्षा के लिए कालीकट को अपने अधीन करना और वहां से अरब व्यापार को उखाड़ फेकना आवश्यक समझा 1501 में वास्को डिगामा के नेत्रृत्व में एक नये पुर्तगाली अभियान दल ने जमोरिन से मुसलमान निवासियों के निर्वासन की बात की। उसने केन्नानोर में फैक्ट्रियों को सशक्त बनाया और मालाबार तट पर गश्त लगाने तथा लाल सागर से आने वाले सभी अरब जहाजों को नष्ट करने के लिए एक सैन्य दल को तैनात किया।[18]

पुर्तगाल का भारत में प्रारम्भिक लक्ष्य मसाला व्यापार पर एकाधिकार जमाना था। पुर्तगालियों ने हिन्द महासागर और लाल सागर पर अरबों के एकाधिकार पर सुनियोजित तरीके से प्रहार किये। जिसके परिणामस्वरूप सामुद्रिक मार्ग और मिश्र से सिकन्दरिया होकर यूरोप जाने वाले भारतीय माल पर प्राप्त होने वाले शुल्क से यूनान एवं तुर्की वचित हो गये। इससे मिश्र तुर्की और गुजरात, पुर्तगाली घुसपैठियों के विरूद्ध हो गये। चौल के समीप लड़े गये नौसैनिक युद्ध में संयुक्त

---

[18] वही

नौसैनिक मुस्लिम बेड़े ने पुर्तगालियों को हराया। इसके एक वर्ष पश्चात पुनः दीव के समीप मुस्लिम बेड़ों को परास्त कर ईसाई जगत की नौसैनिक श्रेष्ठता स्थापित की और अगली शताब्दी में हिन्द महासागर पुर्तगाली सागर के रूप में परिवर्तित हो गया। पुर्तगाली साम्राज्य समुद्र पर उसके नौसैनिक प्रभुत्व और सुमद्र तट के किनारे सामरिक स्थानों और किलों पर आधारित था। पुर्तगालियों ने यूरोप को होने वाले निर्यात व्यापार को नियंत्रित करने के साथ-साथ मालबार तट पर एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक होने वाले व्यापार और भारतीय बन्दरगाहों से फारस की खाड़ी एवं मलक्का तक होने वाले विदेश व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। पुर्तगालियों द्वारा अपनी स्थानीय प्रजा एवं अपने विरोधियों के प्रति लगातार एवं पूर्व नियोजित ढंग से किये जाने वाले क्रूर और बर्बर व्यवहार ने मध्यकालीन बर्बता के युग में नये मानको की स्थापना की। इसके अतिरिकत ईसाई धर्म प्रचार के प्रति उनका उत्साह विवेकहीनता एवं धर्मान्धता की इस सीमा पर पहुँच गया कि वे तलवार की नोक पर अपनी एशियाई प्रजा को ईसाई धर्म में धर्ममान्तरित करने पर उतारू हो गये । 1540 के उपरान्त भारत में पुर्तगाली शासन पर ईसाई पादरियों डामीनिकनों, फेंसिस्कनों और जस्यूटों के प्रभुत्व की स्थापना हुई, जिन्होने भारत में भयन्कर असहिष्णुता पूर्ण धर्मान्धता का प्रदर्शन किया। [19]

इस विशाल पुर्तगाली साम्राज्य पर प्रभावशाली नियंत्रण बनाये रखने के लिए पुर्तगालियों के पास जनशक्ति का पहले से ही अभाव था। जनसंख्या की इस कमी ने बीमारी, लूटमार अफ्रीका एवं भारत में आकर बसने वाले पूर्तगाली बाशिन्दों द्वारा स्थानीय स्त्रियों के साथ

---

[19] वही

विवाह करने के कारण उनके नैतिक मनोबल में पतन के कारण पुर्तगाली जनशाक्ति के अभाव ने और अधिक गम्भीर रूप ले लिया। 1538 में गोवा में बिशप की नियुक्ति की गयी और 1557 में गोवा को ईसाई प्रदेश के दर्जे को बढ़ाकर आर्च विशप के पद पर धर्मोन्नत कर दिया। इसके अतिरिक्त कोचीन और मलक्का में बिशप के पदों का सृजन किया गया। 1552 में यह शिकायत की जाने लगी कि भारत के पुर्तगाली नगरों में हिन्दुओं और मुस्लमानों के बलात् धर्मान्तरण के कारण पुर्तगाली नगर विरान होने लगे है। इसका असहिष्णु धार्मिक नीति का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि गैर ईसाईयों को न्याय मिलना तक बन्द हो गया। एवं पुर्तगाली नगरों से जनसंख्या के पलायन के कारण ये नगर विरान होने लगे।

1542 में सन्त जेवियर का गोवा में आगमन हुआ। इस ईसाई धर्म प्रचारके ने कन्याकुमारी और एडम ब्रिज के मध्य रहने वाले जनजातीय मछुआरों और मालावार समुद्र तट के मुक्कुवा मछुवारों को ईसाई धर्म मे धर्मान्तरित किया। 1552 में अपनी मृत्यु से पूर्व इस महान ईसाई प्रचारक ने नीची जातियों के 7 हजार से अधिक भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया।[20]

पुर्तगाली शासन व्यवस्था और सरकार में स्थायित्व का अभाव था। शासकीय पद सबसे उची बोली बोलने वाले व्यक्ति को नीलाम कर दिये जाते थे शासकीय अधिकारियों में गैर कानूनी व्यक्तिगत व्यापार करने और रिश्वतखोरी का बोल बाला था। अनुशासनहीनता और समय पर वेतन न मिलने के कारण पुर्तगाली सैनिक और नौसैनिक चोर एवं डकैत बन गये, जो उनके पतन का कारण बना।

---

[20] वही, पृ. 243

पुर्तगालियों ने भारत में तम्बाकू की खेती का प्रचलन किया और भारत में जहाज निर्माण को बूरी तरह विनष्ट किया। कालीकट और गुजरात को जहाजों एवं सशस्त्र नावों तक का निर्माण न करने के लिए बाध्य किया। 1565 में पुर्तगालियों ने भारत में पहली मुद्रण मशीन की स्थापना की जिससे मुद्रण प्रणाली अध्ययन के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दिया।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुर्तगाली शासन एक ओर तबाही, बेगारी, अव्यवस्था एवं धार्मिक असहिष्णुता का पर्याय बन गया, वहीं दूसरी ओर मुद्रण मशीन एवं अन्य वैज्ञानिक यन्त्रों के माध्यम से भारतीयों में नई चेतना का विकास किया।

यद्यपि पूर्व में पुर्तगाली सबसे पहले घुसे थे तथापि 18 वीं सदी तक आते आते भारतीय व्यापार के क्षेत्र में उनका प्रभाव जाता रहा। बहुतो ने लूटपाट और सामुद्रिक डकैती अपना ली यद्यपि कुछ ने अपने लिए अधिक सम्मानीय पेशे चुने। उनके पतन के अनेक कारण थे:– प्रथमः उनकी धार्मिक असहिष्णुता से भारतीय शक्तियां बिगड़ गयीं और उनकी शत्रुता पर विजय प्राप्त करना पुर्तगीज़ों के बूते के बाहर की बात थी। दूसरे उनका चुपके–चुपके व्यापार करना अंत में उनके लिए घातक हो गया। तीसरे, ब्राज़ील का पता लग जाने पर पुर्तगाल को उपनिवेश सम्बन्धी क्रियाशीलता पश्चिम की ओर उनमुख हो गयी। अन्ततः उनके पीछे आने वाली दूसरी यूरोपीय कम्पनियों से उनकी प्रतिद्वन्दिता हुई जिसमें वह पिछड़ गये। ये यूरोपीय कम्पनियां पुर्तगाल से उसके पूर्वी व्यापार से प्राप्त समृद्धि के कारण जलती थीं। पुर्तगाल ने इस व्यापार क्षेत्र में पहले ही दखल जमाया था तथा पोप की एक विशेष विज्ञप्ति प्राप्त कर ली थी इन कारणों से पुर्तगाल ने दूसरी

यूरोपीय जातियों को दूर रखने की नीति अपनाई तथा अपने दावे बहुत बढ़ा चढ़ा कर पेश किये किन्तु इन युरोपीय कम्पनियों ने उसकी नीति और दावों को नही माना। [21]

भारत में डच

फिलिप द्वितीय के तमाम प्रयत्नों के उपरान्त नीदरलैण्ड अपनी स्वतन्त्रा प्राप्त करने में सफल हुआ। ततपश्चात एमस्टर्डम के व्यापारियों ने 1592 में डच कम्पनी की स्थापना की । इसके तीन वर्ष पश्चात कार्नीलियस हाउटमैन भारत के लिए चल पड़ा तथा 1597 में बहुत से माल के साथ स्वदेश लौटा इस प्रकार डचों के लिए भारतीय टापुओं का समुदाय खुल गया। डचों की यह सफलता इतनी महत्वपूर्ण थी कि बहुत सी अन्य कम्पनिया आरम्भ की गयी। [22]

दक्षिण पूर्व एशिया के मसाला बाजारों में सीधा प्रवेश प्राप्त करने के विचार से डचों ने 1596 ई. से कई बार सामुद्रिक यात्राएं की और अन्ततः 1602 में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। 1605 में डचों ने पुर्तगालियों से अम्बायना ले लिया तथा धीरे–धीरे मसाला द्वीप–पुन्ज (इन्डोनेशिया) में उन्ही को हराकर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया । उन्होने जकारता को जीतकर 1619 ई. में इसके खण्डहरों पर वैटेविया नामक नगर बसाया, 1639 ई. गोवा पर घेरा डाला, 1641 ई.में मलक्का पर कब्जा कर लिया तथा 1648 ई.में सीलोन की अन्तिम पुर्तगाली बस्ती पर अधिकार जमा लिया। सुमात्रा,जावा, और मलक्का के द्वीपों मे मिर्च एवं मसालों की बहुतायत थी। इन वस्तुओं के लाभ

---

[21] भारत का वृहत्त इतिहास पेज 2–3 रमेशचन्द्र मजूमदार एवं कालिकिंकर दत्त
[22] आधुनिक भारत का इतिहास वी.डी. महाजन पृ. 131

कर व्यापार से आकर्षित होकर डच यहां आये थे इस प्रकार यह द्वीप पुंज उनकी व्यवस्था का न केवल सामरिक एवं प्रशासनिक केन्द्र था, बल्कि उनका आर्थिक केन्द्र भी था। [23]

व्यापारिक स्वार्थो से प्रेरित होकर डच भारत आये उन्होने गुजरात में, कोरोमण्डल समुद्र तट पर और बंगाल, बिहार और उड़ीसा में व्यापारिक कोठियां खोलीं तथा गंगा के निचली घाटी के बहुत भीतर तक गये। वे भारत और सुदूर पूर्व के द्वीपों के बीच भी व्यापार करने लगे इस प्रकार उन्होने विजय नगर साम्राज्य के गौरवपूर्ण दिनों के अत्यन्त पूराने दिनों को फिर चालू कर दिया। सूरत में डचों को काफी नील मिल जाता था जो मध्य भारत और यमुना की घाटी में तैयार होता था। बंगाल, बिहार, गुजरात और कोरोमण्डल से वे कच्चा रेशम, बुने हुए कपड़े, शोरा, चावल एवं गंगा की घाटी में उत्पादित अफीम बाहर भेजते थे। 1690 ई. के बाद पुलीकट के बदले नागपट्टम कोरो-मण्डल तट पर डचों का मुख्य स्थान बन गया। [24] डचों द्वारा कोरोमण्डल के बन्दरगाहों से बैन्टम और बटेविया के विशेष प्रकार के बुने हुए वस्त्र निर्यात किये जाते थे। मसूलीपत्तम से नील का निर्यात किया जाता था बटेविया को चावल, हीरे और दासों का भी निर्यात किया जाता था। डच कोरोमण्डल स्थित बन्दरगाहों से इतना अधिक निर्यात करते थे कि कोरोमण्डल से किये जाने वाले व्यापार को मलक्का के आस पास के द्वीपों का बायां हाथ कहा जाने लगा, क्योंकि कोरोमण्डल से उत्पादित सूती वस्त्रों के बिना मलक्का को किया जाने वाला व्यापार लगभग मृत प्राय सा प्रतीत होता था। डचों द्वारा

---

[23] भारत का वृहत्तर इतिहास, मजुमदार एवं दत्त पृ. 3

[24] भारत का वृहत्तर का इतिहास- रमेश चन्द्र मजुमदार और कालीकिंकर दत्त पृ. 4

कोरोमण्डल से आयात की जाने वाली वस्तुएं थीं : द्वीपसमूह से आयातित चन्दन की लकड़ी और काली मिर्च, जापान से ताँबा और चीन से रेशमी वस्त्र तथा रेशम।

1617 में कोरोमण्डल डच व्यापार निदेशालय को सरकार का दर्जा प्रदान किया गया। पुलीकट के डच व्यापार प्रमुख को गर्वनर और पूर्वी जगत का विशेष काउन्सलर नियुक्त किया। 1659 में तन्जावूर के निकट तेगपत्तन बन्दरगाह को पुर्तगालियों से अधिग्रहित किया गया और इसे पुलीकट के स्थान पर डच गर्वनर का मुख्यालय और कोरोमण्डल तटवर्ती प्रदेशों के सामरिक केन्द्र के रूप में विकसित किया गया। [25]

कोरोमण्डल डच फैक्ट्रियों के बारे में डेनियल हार्वड के विवरण जो 1693 में प्रकाशित हुआ, से पता चलता है कि पित्तपोली और निजामपत्तम जैसे डच फैक्ट्रियों को छोड़ दिया गया था, पोर्टो नोवो जिसकी 1680 में स्थापना की गयी थी एक समृद्ध कपड़ा उत्पादन केन्द्र था। मद्रास के दक्षिण में स्थित सदरपत्तम अपने उत्कृष्ट विशेष प्रकार के कपड़ों के लिए विख्यात था। देवपत्तनम और मसूली पत्तनम बहुत व्यस्त बन्दरगाह थे। गोलकुण्डा में डच फैक्ट्री का प्रमुख गोलकुण्डा के कुतुबशाही दरबार में डच एजेन्ट भी था और नागलवांचे और पालकोल्लू नील के उत्पादन और वस्त्रों की रंगाई के लिए प्रसिद्ध थे। उत्तर की ओर आगे द्राक्षावरम और विमलीपत्तनम में भी डच व्यापारिक केन्द्र थे। इन डच फैक्ट्रियों के प्रमुखों जिन्हें फेक्टर कहा जाता था को व्यापारियों के रूप में विभिन्न श्रेणियों जैसे कि सहायक, कनिष्ठ, प्रधान और वरिष्ठ व्यापारी के रूप में वर्गीकृत किया गया। प्रत्येक डच फैक्ट्री के दो प्रमुख अधिकारी होते थे, एक सामान्य

---

[25] भारतीय इतिहास वी. के. अग्निहोत्री पृ. 246

देखभाल रखता था और डच व्यापार की व्यवस्था करता एवं गोदामों का प्रभारी होता था।

औरंगजेब द्वारा गोलकुण्डा की विजय के साथ ही कोरोमण्डल प्रदेशीय डच सरकार का पतन प्रारम्भ हो गया। नागलवांचे में डच फैक्ट्री नष्ट कर दी गयी। गोलकुण्डा की मुगल विजय के दो वर्षों के अन्दर (1685-87) डचों को अपने व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभांश 1/5 प्रतिशत तक गिर गया और सभी डच फैक्ट्रियों को काफी नुकसान हुआ। ऐसी स्थिति में वानरीड के डच व्यापार मुख्यालय को नेगपत्तम में स्थानान्तरित कर दिया।

1616 में गुजरात के मुगल गवर्नर ने डचों को गुजरात में अस्थायी फैक्ट्री की स्थापना की अनुमति प्रदान की और अगले वर्ष 1617 में वान स्वेस्तेयने को सूरत में डच फैक्ट्री का प्रभारी नियुक्त किया गया। उसने 1618 में शहजादा खुर्रम के साथ एक व्यापारिक सन्धि की। इसके शीघ्र बाद ही डचों ने भड़ौच बम्बई अहमदाबाद आगरा और बुरहानपुर में डच फैक्ट्रियों की स्थापना की। डचों द्वारा सूरत से मूल्यवान नील का और भड़ौच से कपड़े का निर्यात किया जाता था गुजरात के मुगल अधिकारियों द्वारा डचों से बलात् धन वसूल करने के बावजूद डचों ने गुजरात के व्यापार से पर्याप्त लाभ अर्जित किया। सूरत का डच व्यापार निदेशालय ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सार्वधिक लाभ कमाने वाला प्रतिष्ठान था।

बंगाल ने प्रथम डच फैक्ट्री की स्थापना पीपली में की गयी थी परन्तु उसे छोड़कर बालासोर में अन्य फैक्ट्री की स्थापना की गयी 1653 में हुगली के निकट चिन्सुरा में जब डचों के पैर जम गये तो बालासोर की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया । उसके बाद उन्होंने

कासिम बाजार और पटना में डच फैक्ट्री की स्थापना की। बंगाल के नवाब के अधिकारियों द्वारा रिश्वत और अवैध धनापहरण के बावजूद भी डचों ने बंगाल के व्यापार से पर्याप्त मुनाफा कमाया। बंगाल से निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुएं थीं- सूती कपड़ा रेशम, शोरा और अफीम। अफीम का जावा और चीन में निर्यात किया जाता था और इसके निर्यात से डचों ने खूब मुनाफा कमाया। कोरोमण्डल तटवर्ती प्रदशों के कपड़ा व्यापार की तुलना में मालावार प्रदेशों का मसाला व्यापार कम लाभप्रद था। अतः डचों ने मालाबार प्रदेश की उपेक्षा की। मालाबार प्रदेश में वेन गुर्ला सहित डच फैक्ट्रियां कोचीन के डच नवसेनानायक के अधीन थीं। परन्तु डच मालाबार प्रदेश के स्थानीय शासकों से समझौता करके कम कीमत पर कालीमिर्च खरीद कर काली मिर्च के व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित करने में विफल रहे। उनके इस लक्ष्य के मार्ग में पहाड़ो के आर पार तस्करी और यूरोपीय प्रतिद्ववन्दियों की प्रतिस्पर्धा मुख्य रूप से बाधक रही। कालीकट का जमोरिन जो एक स्वतन्त्र शासक था भी डचों के लिए लगातार आपदाओं का स्रोत बना रहा।

17 वीं शताब्दी में भारत में डचों का प्रभुत्व उनकी नौसैनिक श्रेष्ठता पर टिका हुआ था। उन्होनें पुर्तगालियों के विरूद्ध लगातार और उन्मुक्त रूप से शक्ति का प्रयोग करके उनके जहाजों और प्रमुख व्यापारिक नौसैनिक केन्द्रों पर कब्जा कर लिया इस प्रकार डचों ने भारत से पुर्तगाली एकाधिकार को समाप्त कर दिया। परन्तु अंग्रेज़ों की नौसैनिक शक्ति के विरूद्ध इतने प्रभावशाली सिद्ध नही हुए, क्योंकि अंग्रेजो की फैक्ट्रियां मुगलों के साथ समझौतों के अन्तर्गत सुरक्षित थीं

उनके अतिशय केन्द्रीकरण और भ्रष्टाचार के कारण कम्पनी का प्रशासन बहुत कमजोर हो गया।

डच व्यापार का स्वरूप

डचों ने एक ओर तो पुर्तगालियों को भारत के सामुद्रिक व्यापार से निष्कासित कर दिया और दूसरी ओर उन्होनें भारत के विदेश व्यापार को नयी दिशा दी एवं भारत से निर्यात किये जाने वाले माल या निर्यातित वस्तुओं को नवीन स्वरूप प्रदान किया। डचों ने मसालों के स्थान पर भारतीय कपड़ो के निर्यात को अधिक महत्व दिया, क्योंकि वे कपड़ा निर्यात व्यापार को अधिक लाभप्रद समझते थे। धीरे-धीरे भारतीय कपड़ों को दुनिया के दूरस्थ भागों में भी काफी अपनाया जाने लगा। 17 वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक भारतीय कपड़ों की प्रसिद्धि पर्याप्त रूप से स्थापित हो गयी और बाजार में विलासितापूर्ण वस्तु के रूप में इसका विक्रय होने लगा। 1684–89 में डच कम्पनी द्वारा केवल ऐमस्टर्डम मे बेचे गये सूती वस्त्र की सख्या लगभग 12 लाख थान थी। डचों द्वारा निर्यात की जाने वाली अन्य वस्तुओं में नील, शोरा और बंगाल का कच्चा रेशम था। भारत से भारतीय वस्त्र को प्रमुख निर्यात की वस्तु बनाने का श्रेय ड़चो को जाता है। भारतीय कपड़ों का युरोप में निर्यात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि इंग्लैण्ड में भारत के साथ समूचे व्यापार की निन्द इस रूप में की गई :-

> ''भारतीय रेशम और शालों ने अंग्रेजी वैशिष्ट्रय को नष्ट कर दिया और अंग्रेजी करघे बेकार हो गये। यह प्रश्न रखा गया कि क्या यह शर्म की बात नही है कि भद्र पुरूष जिसके पूर्वजों ने अंग्रेजी ऊन एवं अंग्रेज कारीगरों द्वारा बनाये गये कपड़े पहने हों, आज मुर्शिदाबाद की बनी छपी हुई सूती कमीज और रेशमी कपड़े पहने दिखाई दे?''

लेकिन भारत के विदेश व्यापार से डचों को निकाल फेकने वाले अंग्रेजो ने इस स्थिति को पूर्णतया अपने पक्ष में कर लिया और रात दिन चलने वाले भारतीय करघों को बेकार कर दिया और बुनकरों को बेरोजगार बना दिया।

डचों की अग्रेजो से प्रतिद्वन्दिता 17वीं सदी में पूर्तगालियों की प्रतिद्वन्दिता की अपेक्षा अधिक तीव्र थी। पूर्व में डचों की नीति तो उद्देश्यों से प्रभावित हुई। पहला उद्देश्य था उनकी स्वतन्त्रता के शत्रु कैथोलिक मतावलम्बी स्पेन और उसके मित्र पुर्तगाल से बदला लेना। दूसरा उद्देश्य यह था कि द्वीपपुंज 'इन्डोनेशिया' में उपनिवेश स्थापित करना और बस्तियां बसाना, जिस से उस क्षेत्र के व्यापार पर एकाधिकार हो जाये। पुर्तगाली प्रभाव के क्रमिक पतन के द्वारा उनका पहला लक्ष्य पूरा हो गया। दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के कारण उनकी अंग्रेजो से घोर स्पर्धा हो गयी। जिस समय इंग्लैण्ड में स्टूअर्ट वंश और क्रामवेल का शासन था उस समय यूरोप में भी इंग्लैण्ड और हालैण्ड के बीच के सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण हो गये। इसके दो कारण थे व्यापारिक प्रतिद्वन्दिता तथा स्टूअर्ट वंश की फ्रांस से सन्धि और स्पेन पक्षीय नीति। भारत में डचों का अग्रेंजो के लिए व्यापारिक प्रतिद्वन्दी होना बन्द न हुआ। कोरोमण्डल तट पर डचों एवं दूसरे क्षेत्रों में इनके व्यापार के विस्तार का समय 1630 से 1658 के बीच है, यद्यपि युद्ध, अकाल और अधिकारियों की लूट उन्हे तबाह करती रही।[26] समय-समय पर मीर जुमला के साथ उनका संघर्ष होता रहता था। 1698 में जब शाहजादा अजीमुश्शान बर्दवान गया, तब वहाँ के डच

[26] Tapan Roy Chaudhari, John **Company in Coromandal,** 1605-90 , p. 80

प्रधान ने उससे शिकायत की कि जबकि उसकी, कम्पनी डचों के व्यापार पर साढ़े पांच प्रतिशत चुंगी देती थी, वहां अंग्रेज केवल तीन हजार रूपये सालाना देकर छुट्टी पा जाते थे। उसने यह बात रखी कि डचों को भी वही विशेषाधिकार मिले जो अंग्रेजों को प्राप्त है। डचों और अंगेजों के बीच यह व्यापारिक प्रतिद्विन्दिता सन् 1754 ई. तक तीव्र बनी रही। अन्ततः डचों का पराभव तथा अंग्रेजों का निर्विवाद प्रादुर्भाव हुआ।

अंग्रेजी ईस्ट इन्डिया कम्पनी और भारत-

पन्द्रहवीं शताब्दी की समाप्ति के साथ-साथ ब्रिटिश वाणिज्य के इतिहास में एक नये युग की शुरूआत हुई। कोलम्बस और वास्को-डि-गामा की समुद्री यात्राओं ने वाणिज्यि जगत के गुरूत्वाकर्षण बिन्दु को भूमध्य सागर से अटलांटिक की ओर स्थानान्तरित कर दिया। इंग्लैण्ड के सम्राट हेनरी सप्तम ने विदेश व्यापार प्रोत्साहित करने में विशेष रूचि प्रदर्शित की। 1580 में ड्रेक ने पृथ्वी की परिक्रमा की। कुछ ही समय बाद अंग्रेजों ने स्पेन के जंगी जहाजों के बेड़े पर विजय प्राप्त की। इन घटनाओं से इंग्लैण्ड के निवासी विभिन्न कार्य क्षेत्रों में साहस और वीरता की भावना से भर उठे। फलतः कुछ अंग्रेज सामुद्रिक कप्तान पूर्वी समुद्रों में यात्रा करने को प्रोत्साहित हुए। 1591 ई. और 1593 ई. के बीच जेम्स लंकास्टर कुमारी अन्तरीप और पेनान्ग पहुँचा। 1596 ई. में बेंजामिन वुड के अधीन जहाजों का एक बेड़ा पूर्व की ओर रवाना हुआ। 1599 ई. में लंदन का एक व्यापारी साहसिक जौन मिल्डेनहाल स्थलमार्ग से भारत आया तथा पूर्व में सात वर्ष रहा। फिर भी इंग्लैण्ड की व्यापारिक समृद्धि के लिए पहला महत्वपूर्ण कदम 31

दिसम्बर 1600 ई. को उठाया गया। उस स्मरणीय दिन को ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने इंग्लैण्ड की रानी एलिजवेथ प्रथम से एक आज्ञापत्र प्राप्त किया जिसमें उसे पन्द्रह वर्षों के लिए पूर्वी व्यापार का एकाधिकार मिला। दिसम्बर 1600 ई. को ऐसे साहसिकों ने The Governor and company of Merchants of London Trading into the East Indies नाम से एक व्यापारिक संघ की स्थापना की।[27]

अंग्रेजी कम्पनी की प्रारम्भिक समुद्री यात्राएं सुमात्रा, जावा और मलक्का के लिए हुई जिनका उद्देश्य मसाले के व्यापार का एक हिस्सा प्राप्त करना था। भारत में व्यापारिक कोठियां कायम करने का पहला प्रयत्न 1608 में हुआ। स्पेन तथा पुर्तगाल से शान्तिवार्ता के पश्चात यह निश्चय किया गया कि बैंटम की ओर जाने वाला तीसरा अभियान दल अदन और सूरत में व्यापार केन्द्र खोलने का प्रयास करेगा। कम्पनी ने कप्तान हाकिन्स को भारत भेजा जो 1609 में जहांगीर के दरबार में पहुँचा। भारत में अंग्रेजों का प्रारम्भिक दौर पुर्तगालियों के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण अधिक उत्साहवर्धक नहीं रहा। कैप्टन विलियम हाकिन्स सूरत से मुगल दरबार '1608' में पहुँचा किन्तु सूरत में फैक्ट्री की स्थापना की अनुमति पाने में सफल नही हो सका। सन् 1611 में पुर्तगालियों के विरोध के बावजूद कैप्टन मिडल्टन सूरत के समीप स्वाल्ली पहुँचा और मुगल गवर्नर से वहाँ व्यापार करने की अनुमति लेने में सफल हो गया। केप्टन वेस्ट द्वारा सूरत के बन्दरगाह की विजय ने पुर्तगाली एकाधिकार की निरन्तरता को भंग किया तथा सूरत में स्थायी रूप से एक फैक्ट्री स्थापित की। शीघ्र ही अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम के एक प्रतिभावान राजदूत को मुगल दरबार में भेजा,

---

[27] रमेश चन्द्र मजूमदार-भारत का वृहत इतिहास पेज. 5-7

जिसका उद्‌देश्य था बादशाह से एक व्यापारिक सन्धि करना। इस काम के लिए सर टामस रो को चुना गया। वह "अति बुद्धिमान, सुवक्ता, विद्वान, परिश्रमशील और रूपवान व्यक्ति था। यहाँ उसे 1618 में अपने पक्ष में दो फरमान एक बादशाह के द्वारा तथा दूसरा शाहज़ादा खुर्रम के द्वारा प्राप्त करने की सफलता प्राप्त की। इन फरमानों से अंग्रेजों को व्यापार करने तथा आन्तरिक व्यापाारिक करो से छूट मिल गयी। रो सन 1619 में भारत छोड़ा, किन्तु इसके पहले ही अंग्रेज सूरत, आगरा, अहमदाबाद और भड़ौंच में कोठियां स्थापित कर चुके थे। से सभी कोठियां सूरत के कोठी के प्रेंसीडेन्ट और कौंसिल के नियन्त्रण में रखी गयी थीं। लाल सागर के बन्दरगाहों और फारस के साथ कंपनी का जो व्यापार चलता था, उसे नियंत्रित करने का अधिकार भी इन्हें ही मिला। अंग्रेजी कोठियां भड़ौच और बड़ौदा में भी शुरू की गयी, जिनका लक्ष्य था उन इलाकों में बने हुए फुटकर बेचने के कपड़ो को सीधे खरीद लेना। अंग्रेजी कोठी आगरे मे भी कायम हुई जिसके दो अभिप्राय थे– शाही दरबार के अफसरों के हाथ बनात बेचना और नील खरीदना जिसकी सबसे अच्छी किस्म बियाना में तैयार होती थी। इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय को बम्बई पुर्तगाली ब्रिगांजा की कैथरीन की दहेज के रूप में मिली। जिसे 1868 में चार्ल्स द्वितीय ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दस पौण्ड वार्षिक किराये पर दे दिया। बम्बई धीरे–धीरे अधिक समृद्ध होती गयी यह इतनी महत्वपूर्ण बन बैठी कि 1687 ई० में पश्चिमी समुद्र पर अंग्रेजो की मुख्य बस्ती के रूप में सूरत से बढ़ गयी।[28]

---

28 रमेश चन्द्र मजूमदार– भारत का वृहत इतिहास, पेज 7

1616 तक अंगेज अहमदाबाद, बुरहानपुर आगरा और सूरत में अपनी चार फैक्ट्रियां स्थापित करने में सफलता पा चुके थे जबकि कोचीन से पुर्तगालियों को निकाल बाहर करने और मालाबार में उन्हें प्रभावहीन करने की दिशा में भी सक्रिय कार्यवायी की गयी। फारस की खाड़ी में भी उन्हें सौभाग्य से पर्याप्त सफलता मिली जहां पुतगालियों का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। 1618 में फारस के शाह ने अंग्रेजो को फारस की खाड़ी के मुहाने के समीप जास्क बन्दरगाह से अपना व्यापार करने की अनुमति दे दी। दो वर्ष बाद ही अंग्रेजो ने अरबो के सहयोग से पुर्तगालियों से होर्मुज जीत लिया। होर्मुज की विजय से दीव के पुर्तगाली पत्तन का व्यापार और उनकी शक्ति का पतन हो गया। इसके कुछ समय बाद ही पुर्तगालियों को पूरी तरह हटा दिया गया। 1629 और 1630 में अंग्रेजों को अन्य कई सफलताएं मिलीं और मुगल सम्राट ने उन्हें भारत से लाल सागर की ओर जाने वाले हज यात्रियों के जहाजों के बेड़े की वार्षिक सुरक्षा तथा समुद्री चौकसी रखने का दायित्व सौंप दिया। इस प्रकार इस्लाम के पवित्र स्थानों की यात्रा के लिए समुद्रीमार्ग खुला रखने के कारण सूरत में अंग्रेजों को बड़ी प्रशंसा मिली। सूरत की स्थिति सुदृढ़ होने से अंग्रेजों को शीघ्र ही मुगलों की अर्थव्यवस्था में राजस्व का स्थायी स्रोत मिल गया। समुद्र तट की निगरानी के लिए सामुद्रिक पुलिस तथा मक्का जाने वाले सामुद्रिक मार्ग की चौकसी मिल जाने से अंग्रेज अब भारतीय शासन की ओर से पैरोकार बन बैठे।[29]

दक्षिणी-पूर्वी समुद्र तट पर अंग्रेजों ने 1611 में मसुलीपट्म में एक व्यापारिक कोठी कायम की थी यह गोलकुण्डा का प्रमुख बन्दरगाह

[29] वी.के. अग्निहोत्री, भारतीय इतिहास, पृष्ठ 249

था तथा उस क्षेत्र में हीरे माणिक और कपड़े के व्यापार का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। जहां डचों का विरोध होने लगा स्थानीय अफसर भी बार-बार रूपयों की मांग करने लगे। इन बातों से बहुत तंग आकर उन्होंने 1626 ई० में एक दूसरी कोठी अर्मागॉव में खोली। यहां भी उन्हें असुविधाओं का सामना करना पड़। इसलिए उन्होंने अपना ध्यान मसूलीपतनम की ओर फेरा। सन् 1632 में गोलकुण्डा के सुल्तान ने एक सुनहरा फरमान दिया जिससे उन्हें बहुत लाभ हुआ। इसके अनुसार पॉच सौ पगोडा सालाना कर देने पर उन्हें गोलकुण्डा राज्य के बन्दरगाहों में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने की आज्ञा मिल गयी।[30]

1630 में सूरत का इतना विस्तार हो गया कि कम्पनी के निदेशको ने पूर्व की प्रमुख अंग्रेज बस्ती बना दिया और दूरस्थ बेंटम (जावा-इन्डोनेशिया) को भी इसके नियन्त्रण में रख दिया। 1616 में जिन डचों ने सूरत में अपनी फैक्ट्रियां स्थापित की थीं वे पश्चिमी तट पर अंग्रेजों से बराबरी की टक्कर नहीं ले पा रहे थे। उन्होने कोचीन को अपने कब्जे में कर लिया और मालाबार में कालीमिर्च की आपूर्ति में भागीदारी की, लेकिन वे मुगल दरबार में या गुजरात के मुगल सूबेदार पर अपना प्रभाव नहीं जमा पाये। अंगेजों ने बंगाल के तट पर स्वयं को शक्तिशाली रूप में स्थापित कर लिया। १६३६ में अंग्रेजों द्वारा मद्रास की स्थापना 1650 में हुगली पहुॅच जाने और बालासोर में फैक्ट्री की स्थापना से पूर्वी तटवर्ती क्षेत्र में उन्होंने अपनी स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ और स्थायी कर ली। इसी दौरान 1631 में सूरत में भंयकर अकाल पड़ा और उसके बाद ही महामारीफैल गयी जिसने जो महाविनाश

[30] रमेश चन्द्र मजूमदार और कालीकिंकर दत्त, भारत का वृहत इतिहास' पृ० 7

मचाया, जिनके कारण अंग्रेज संकट में पड़ गये। बाद में गुजरात भी इस महामारी के चपेट में आ गया।[31]

1620 में अंग्रेजों ने पुलीकट से व्यापार करना आरम्भ किया लेकिन डचों के विरोध के कारण तीन वर्ष में ही इन्हें यह जगह भी छोड़नी पड़ी। इसी कारण उन्हें 1628 में मसूलीपत्तनम छोड़ना पड़ा या, जहॉ 1613 में व्यापार की अनुमति मिल गयी थी पर 1630 में वे मसलीपत्तम लौट आये और 1632 में गोलकुण्डा के सुल्तान से प्राप्त स्वर्णिम फरमान के द्वारा इनके व्यापार की सुरक्षा और समृद्धि सुनिश्चित हो गयी। मसुलीपत्तम से उन्होंने फारस को निर्यात करने के लिए खुदरा माल खरीदा।

सूरत की अंग्रेज फैक्ट्री का प्रधान 1669 से 1677 तक बम्बई का गवर्नर गेराल्ड औंगियर ही वास्तव में बम्बई की महानता का संस्थापक था। वह बम्बई को व्यापार एवं जहाजरानी के लिए पूरी तरह सुरक्षित क्षेत्र तथा थल की ओर से मराठों के आक्रमणों एवं सामुद्रिक दिशा से पुर्तगालियों एवं सामुद्रिक लुटेरों के हमलों से पूर्णतया मुक्त क्षेत्र बनाने के लिए दृढ़ संकल्प था। उसने बम्बई के किले की किलेवन्दी को सुदृढ़ किया, वहां गोदी का निर्माण कराया बम्बई नगर की सीापना की न्यायालय स्थापित किया पुलिस दल एवं सेना का गठन किया ताबे एवं चॉदी के सिक्के ढालने के लिए टकसाल स्थापित की। औंगियर के नेतृत्व में बम्बई सभी व्यापारियों तथा उत्पादकों का आश्रय स्थल बन गया। औंगियर के शासन में बम्बई भारतीय समुद्र तटवर्ती सर्वोत्तम नौ सैनिक अड्डा और बन्दरगाह तथा मराठों व मालाबार के समुद्री लुटेरों से बचने के लिए सुरक्षित शरणस्थली बन गया था। बम्बई की

---

[31] रमेश चन्द्र मजूमदार और कालीकिंकर दत्त, भारत का वृहत इतिहास' पृ० 8

जनसंख्या बढ़कर 60000 हो गयी तथा राजस्व तिगुना हो गया। औंगियार के उत्तराधिकारी रौल्ट '1677–82' के गवर्नरकाल में अंग्रेज बस्ती के रूप में बम्बई का अस्तित्व डांवाडोल ही रहा, जबकि इसके आसपास के क्षेत्रों में स्थित द्वीपों पर मुगलों या मराठों का कब्जा था। इस समय से लेकर 18वीं शताब्दी के प्रथम दो तीन दशक तक बम्बई का निरन्तर पतन ही होता रहा। औंगियार के शान्तिपूर्ण तथा व्यवस्थित प्रशासन के विपरीत सर जान चाइल्ड का शासन आतंकपूर्ण था।[32]

इस दौरान अनाधिकृत व्यापारियों (Interlopers) ने समस्याएं पैदा कीं। 17वीं शताब्दी के अन्त तक इन अनाधिकृत व्यापारियों ने समुद्र में खुले–आम लूटपाट करनी प्रारम्भ करदी। 1686 में दो लुटेरे जहाजों ने लालसागर में अनेक मुगल जहाजों को बलात् अपने अधिकार में कर लिया। इससे सूरत के मुगल सूबेदार ने अंग्रेजों के विरुद्ध और विशेषकर सूरत के अध्यक्ष और बम्बई के गवर्नर सर जान चाइल्ड के विरूद्ध उग्र रोष व्यक्त किया। अंग्रेज सामुद्रिक लुटेरों के लूटपाट के कारण मुगलों ने शीघ्र ही अपना आक्रोश कम्पनी पर उतारा। सर जान चाइल्ड इस घटना से इतना भयभीत हो गया कि उसने शीघ्र ही औरंगजेब से सम्पर्क किया जो उन दिनों दक्षिण में ही था। औरंगजेब उसकी कुटिल चाल में नही आया। उसने आदेश दिया कि अंग्रेजों के साथ शत्रुओं जैसा व्यवहार किया जाय। सूरत में अंग्रेज बन्दियों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार किया गया। अन्ततः जान चाइल्ड ने सम्राट के सम्मुख शान्ति की गुहार की, इस पर सम्राट ने उनके सम्मुख निम्नलिखित शर्तें प्रस्तावित की जो अंग्रेजों के लिए बहुत अपमानजनक थीं।

---

[32] वी.के. अग्निहोत्री, भारतीय इतिहास, पृष्ठ 250

1708 से अठारहवीं सदी के मध्य तक की कालावधि में अंग्रेजो के राजनीतिक उद्देश्य प्रमुख हो गये थे और भारत में कम्पनी का व्यापार और प्रभाव क्षेत्र दोनो प्रबल हो गये। 1715 में जान सुरमां के नेतृत्व में एक अंग्रेजी राजनयिक मिशन तत्कालीन मुगल सम्राट फरूखसियर के दरबार में पहूँचा जो इन वर्षो में कम्पनी के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके परिणाम स्वरूप मुगल सम्राट फरूखसियर ने बंगाल हैदराबाद और गुजरात के सूबेदार के नाम तीन फरमान प्रसारित किए। बंगाल में पहले ही से 3000 रू. वार्षिक अदा करने पर कम्पनी के आयात निर्यात को अतिरिक्त सीमा शुल्क से मुक्त कर दिया गया। फरमान के द्वारा कम्पनी को कलकत्ता के आस-पास अतिरिक्त भूमि किराए पर लेने की भी अनुमति प्रदान की गयी। हैदराबाद में निःशुल्क व्यापार करने का कम्पनी का पुराना विशेषाधिकार यथावत बना रहा और मद्रास से उसे पहले ही जैसा किराया पड़ता था। सूरत में 10000 रूपये सालाना अदा करने पर कम्पनी के समस्त व्यापार को आयात-निर्यात शुल्क से मुक्त कर दिया गया और बम्बई में कम्पनी की टकसाल में ढाले जाने वाले सिक्कों का मुगल साम्राज्य में प्रचलन हुआ।

बंगाल के प्रथम नवाब मुर्शीद कुली खॉ ने अनेक प्रकार से कम्पनी को नियन्त्रित करने और अन्य व्यापारियों की भांति कम्पनी के साथ व्यवहार करने के सम्बन्ध में प्रबल प्रयास किए परन्तु इन प्रयासों का कम्पनी के व्यापार पर कोई दुष्प्रभाव नही पड़ा और उसका व्यापार समृद्ध होता गया। अगले दशक में ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपना प्रादेशिक विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया और अठारहवी शताब्दी के अन्त तक भारत में अपनी प्रभुसत्ता की स्थापना की।

फ्रान्सीसी उपनिवेशवाद

भारतीय तटवर्ती प्रदेशों में फ्रान्सीसियों का आगमन बहुत विलम्ब से हुआ। लेकिन पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने की उनकी इच्छा 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही थी। उनके प्रारम्भिक प्रयास डचों के विरोध के कारण असफल रहे। वस्तुतः डच पूर्वी जगत के व्यापार पर अपना एकाधिकार बनाए रखना चाहते थे। फ्रान्स के योग्यतम मन्त्रियों में रिशलू का युरोप में फ्रांस के प्रभाव को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान था। 1642 में रिसलू के निर्देशन में मेड़ागास्कर तथा आस-पास के द्वीप -समूहों में व्यापार की संभावनाओं की खोज करने एवं उपनिवेश स्थापित करने की दृष्टि से सामुद्रिक यात्राएं करने की अनुमति प्रदान की गयी।

फ्रांस का सम्राट लुई चौदहवें का शासन काल कई दृष्टियों से फ्रान्सीसी इतिहास का वैभव काल था। इसी काल में फ्रान्सीसी वाणिज्यिक उद्यम के सन्दर्भ में अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किए गये। इन प्रयासों के फलस्वरूप फ्रान्सीसी धर्मप्रचारकों एवं यात्रियों ने एशिया माइनर के रास्ते से भारत के लिए थल मार्ग की खोज की। लुई चौदहवें का प्रसिद्ध मन्त्री कालबर्ट सामुद्रिक व्यापार के द्वारा फ्रान्स की आर्थिक प्रगति करने के प्रति बड़ा उत्सुक था। कालबर्ट के प्रयासों के फलस्वरूप ही 1664 में भारत में फ्रान्सीसी व्यापारिक कम्पनी-कम्पनें देश इन्देस औरियंतलेस (Compagnie des indes orientales) की स्थापना हुई। यद्यपि फ्रान्सीसी कम्पनी को राज्य द्वारा पर्याप्त विशेषाधिकार तथा वित्तीय संसाधन प्रदान किए गये। किन्तु मेडागास्कर

में उपनिवेश स्थापित करने में निष्फल प्रयास में इसके संसाधनों एवं शक्ति दोनों का ही अपव्यय हुआ। 1667 में फ्रेन्सिस कॉरों के नेतृत्व में एक अभियान दल भारत भेजा गया। उसने भारत में 'सूरत' में प्रथम फ्रान्सीसी फैक्ट्री स्थापित की। 1669 में मैर्कारा ने गोलकुण्डा के सुल्तान से अनुमति प्राप्त करके मसूलीपत्तम में दूसरी फ्रान्सीसी फैक्ट्री स्थापित की।[33]

1673 में मसूलीपत्तम में फ्रान्सीसी कम्पनी के निदेशक फ्रेन्सिस मार्टिन ने वालिकोण्डपुरम के सूबेदार शेर खॉ लोदी से फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना के लिए भूमि प्राप्त कर ली। जिससे पाण्डिचेरी की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार की जा सकी। 1674 में पाण्डिचेरी पर प्रभुत्व स्थापित करने के पश्चात फ्रेसिस मार्टिन ने हथियारों के टकराव और पतनोन्मुख साम्राज्यों की छीना झपटी के बीच एक महत्वपूर्ण नगर के रूप में पाण्डिचेरी का विकास किया। बंगाल में फ्रासीसियों ने मुगल सूबेदार शाइस्ता खॉ द्वारा प्रदत्त भूमि पर चन्द्रनगर की प्रसिद्ध फ्रान्सीसी बस्ती की नींव डाली। सन् 1701 में पाण्डिचेरी को पूर्व में फ्रान्सीसियों की सभी बस्तियों का मुख्यालय बनाया गया, और मार्टिन को भारत में फ्रान्सीसी मामलों का महानिदेशक नियुक्त किया गया। यह समझा जाता है कि मार्टिन को भारतीय शक्तियों के पतन का पूर्वाभास था और उसने 'मुक्त वाणिज्यिक विकास की आवश्यकता शर्त के रूप में फ्रान्सीसियों के राजनीतिक प्रभुत्व को स्थापित करने की योजना बनायी। उसने दिसम्बर 1700 में फ्रान्स के समुद्री मामलों के मन्त्री को लिखा कि समृद्ध बस्तियों और पूर्णतया सुरक्षित स्थानों से इन लोगों के बीच में कम्पनी की बेहतर स्थिति बनेगी। उसने पाण्डिचेरी के चारों

---

[33] रमेश चन्द्र मजूमदार और कालीकिंकर दत्त, भारत का वृहत इतिहास' पृ० 13

तरफ मजबूत प्राचीर निर्मित करायी, बंगाल में चन्द्रनगर में कम्पनी की स्थिति मजबूत करने में सहायता की। चन्द्रनगर में 1690 में देशलैंडस ने एक फैक्ट्री स्थापित की। सूरत की मृतप्राय फैक्ट्री को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी किया। उसने पाण्डिचेरी की फैक्ट्री में फोर्ट लुई का निर्माण कार्य भी स्पेनी उत्तराधिकार के लड़ाई के कारण छाये काले बादलों के दौरान ही पूरा किया। इस लड़ाई ने भारतीय व्यापार के गंभीर आघात पहुँचाया और पाण्डिचेरी को अपने संसाधनों पर आश्रित रहना पड़ा।

सन् 1706 में मार्टिन की मृत्यु से पूर्व ही फ्रान्सीसियों की बस्तियों में अत्यधिक सुधार हो गया था तथा उनमें अकेले भारतीय जनसंख्या 40,000 हो गयी थी। स्थानीय राजाओं के दरबार में फ्रान्सीसियों का सम्मान होता था तथा उन में फ्रान्सीसियों की प्रगति के प्रति किसी प्रकार का ईर्ष्या भाव या शत्रुता का भाव नही था मार्टिन भारतीय व्यापारियों और नरेशों के साथ निष्पक्षता और न्यायपूर्ण व्यवहार करके उनका व्यक्तिगत विश्वास सम्मान और आदर प्राप्त किया। उसे उनका शुभचिन्तक समझा जाता था और प्रायः आपसी झगड़ों में मध्यस्थता करने के लिए उसे आमन्त्रित किया जाता था। इन्ही सब बातो से उसने भारतीय शक्तियों के साथ ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए जिनका भरपूर उपयोग उसके यशस्वी उत्तराधिकारी डुप्ले ने किया।"

पाण्डिचेरी की प्रभूत समृद्धि की तुलना में भारत में अन्य स्थानों पर फ्रान्सीसियों का प्रभाव कम होता गया। 1714 में उनकी सूरत स्थित फैक्ट्री बन्द हो गयी। बंगाल में फ्रांसीसियों ने 1676 में चन्द्रनगर पर अधिकार कर लिया था। बाद में 1688 में मुगल बादशाह ने उन्हें ही इसे भेंट कर दिया। किन्तु कलकत्ता में अंग्रेज़ों का प्रभुत्व कायम रहा,

चिंसुरा में डच भी शक्तिशाली हो गये थे किन्तु चन्द्रनगर में फ्रान्सीसी केवल छोटे व्यापारी ही बने रहे और विशेष प्रगति नही कर सके। 1731 में चन्द्रनगर के प्रमुख के रूप में डूप्ले की नियुक्ति के बाद ही फ्रान्सीसी बस्तियों में नयी चेतना के संचार का व्यापक प्रयास किया गया। फ्रान्सीसी कम्पनी के दुर्भाग्य और संकटापन्न स्थिति के कारण फ्रान्सीसियों का भारत में पतन होता रहा। परन्तु 1719 में फ्रान्सीसी सम्राट के एकशाही आदेश के द्वारा युनाइटेड कम्पनी देस इन्डेस की स्थापना की गयी तथा फ्रान्सीसी औपनिवेशिक व्यापार का सम्पूर्ण कार्य इसे सौंपा गया । किन्तु फ्रान्सीसी अंग्रजों से स्पर्धा नहीं कर सके तथा 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वे उनसे काफी पिछड़ गये। अंग्रेजों की नौसैनिक श्रेष्ठता फ्रान्सीसी सरकार के समर्थन का अभाव, फ्रान्सीसी कम्पनी का दुर्बल संगठन और अन्यत्र अंग्रेजी–फ्रान्सीसी स्पर्द्धा आदि भारत में फ्रान्सीसी वाणिज्यिक उद्यम के पतन के मुख्य कारण है। पुर्तगाली और डच पहले ही पिछड़ गये थे। इससे अंग्रेजी प्रभुत्व को बल मिला।[34]

इस प्रकार 16वीं और 17वीं शताब्दियों के दौरान चार युरोपीय कम्पनियों पुर्तगाली एस्तादो दि इण्डिया, द डच युनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी और दि इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी और फ्रेन्च ईस्ट इण्डिया भारत में स्थापित हुई। भारत में उनके आगमन और स्थापित होने में दो प्रमुख कारण सहयोगी रहे– पहला भारत के साथ मसाले एवं कपड़ों का लाभप्रद व्यापार और युरोपीय देशों की नौसैनिक श्रेष्ठता। पुर्तगाल ने अपनी नौसैनिक शक्ति के बल पर सर्वप्रथम एशियाई जहाजों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और थल प्रदेशों मे कुछ महत्वपूर्ण चौकियां

---

[34] वी.के. अग्निहोत्री, भारतीय इतिहास, पृष्ठ 257

स्थापित कीं जिससे कि उनके नौसैनिक अड्डों और वाणिज्यिक गतिविधियों के लिए उनका उपयोग किया जा सके। अपने अनैतिक व्यापार आचरण से जिसके द्वारा उन्होनें समुद्री लूटपाट भी की वे शीघ्र ही बदनाम हो गये। सत्रहवी शताब्दी में अंग्रेजों एवं डचों ने पुर्तगाली नौसैनिक प्रभुत्व को चुनौती दी, जिसने भारत के साथ युरोपीय व्यापार के स्वरूप को बदल दिया। पुर्तगालियों की रूचि केवल कालीमिर्च और मसालों में ही थी जबकि डचों ने युरोप के बाजारों को भारतीय वस्त्र एंव अन्य उत्पादों से परिचित करया। कपड़े के व्यापार के कारण ही डचों ने कोरोमण्डल तट पर अपनी फैक्ट्रियां स्थापित कीं जो उत्कृष्ट छपे हुए तथा अन्य उत्तम प्रकार के कपड़ों की बुनाई तथा छपाई के लिए प्रसिद्ध थीं। डचों ने पुर्तगालियों का वर्चस्व समाप्त करने के लिए उनके समुद्री तथा स्थानीय अधीनस्थ क्षेत्रों पर आक्रमण करने की व्यवस्थित योजना बनायी। मलक्का पर उन्होंने इसी आधार पर विजय प्राप्त की, गोआ का घेराव किया तथा कोरोमण्डल तट पर निगरानी की। इस प्रकार डचों ने अन्तर-एशियाई व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित किया। डच प्रभुत्व स्थापित हो जाने के तुरन्त बाद अंग्रेजो ने भी गुजरात, कोरोमण्डल तट और अन्ततः बंगाल में अपनी व्यापारिक चौकियां स्थापित कीं। मुगलों ने 1633 में पुर्तगालियों को बंगाल से निकाल दिया इसलिए अंग्रेज और डच कम्पनियों ने बंगाल में अपना व्यापार स्थापित किया। बंगाल को उपमहाद्वीप का अन्नभण्डार और मुगल साम्राज्य के प्रमुख वस्त्र भण्डार के रूप में जाना जाता था, शीघ्र ही इस प्रमुख व्यापार में प्रान्सीसी भी शामिल हो गये। इस प्रकार 18 वीं शताब्दी में डच अंग्रेज और फ्रान्सीसियों की त्रिपक्षीय भागीदारी के कारण भारत के विदेश व्यापार का अत्यधिक विस्तार हुआ। 1740 के

आरम्भ तक भारत में मुगल साम्राज्य के पतन और तद्जनित राजनीतिक परिवर्तनों ने भारत में युरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को राजनीतिक अवसर के प्रति पूरी तरह से जागरूक बना दिया। क्योंकि राजनीतिक शक्ति के द्वारा उनके आर्थिक स्वार्थो की अच्छी सिद्धि हो सकती थी।

डच और अंग्रेजी कम्पनियों द्वारा भारत में सक्रिय व्यापार प्रारम्भ करने से पूर्व मात्रा और मूल्य दोनों की दृष्टि से भारत के साथ युरोपीय व्यापार बहुत उल्लेखनीय नहीं था। संयुक्त पूंजी के आधार पर उत्तर युरोपीय व्यापारिक कम्पनियों के संगठन ने भारत के साथ युरोप से सीधे व्यापार को पूर्णतः एक नवीन और शक्तिशाली संस्थागत आधार प्रदान किया। इसके फलस्वरूप वाणिज्यिक स्पर्द्धा तेज हुई और व्यापार का बहुत बड़ा भाग जो पहले भारतीय व्यापारियों के हाथ में था, अब युरोपीय कम्पनियों के पास चला गया। प्रत्येक युरोपीय कम्पनी की संगठनात्मक व्यवस्था क्रय और विक्रय प्रणाली में भी अन्तर था। युरोपीय कम्पनियों ने मानकीकरण को क्रियान्वित करने के लिये ''प्रपंजी व्यवस्था'' (Muster System) को विकसित किया। अंग्रेजों, डचों और फ्रान्सीसियों की वार्षिक खरीददारी से कपड़ा उद्योग का प्र्याप्त विकास हुआ। जिससे जनसंख्या के बहुत बड़े भाग को रोजगार उपलब्ध हुआ।

भारत से निर्यात होने वाले प्रमुख माल थे - कपड़ा, खाद्य सामग्रियां जैसे कि चावल, दालें, शक्कर और तेल, वाणिज्यिक उत्पाद-नील, अफीम और शोरा युरोप के साथ भारत के सामुद्रिक व्यापार की दृष्टि से सत्तरहवीं एवं अट्ठारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण स्वर्णिम चरण कहा जासकता है। परन्तु यह समृद्धि अल्पकालिक सिद्ध हुई और

शीघ्र ही युरोपीय वाणिज्यिक सम्बन्धों ने भारत को औपनिवेशिक दासता की बेड़ियों में जकड़ लिया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार और प्रभाव में वृद्धि

1599 में जब 80 अंग्रेज भारत से व्यापार के लिए लंदन के लिए एक कम्पनी स्थापित करने के लिए एकत्रित हुए तो उस समय उनके मन में भारतीय राजनीति में भाग लेने की कोई लालसा नही थी उनका मुख्य उद्देश्य गरम मसाले का व्यापार करना था। जिस पर पहले पुर्तगालियों और फिर डचों का एकाधिकार था। 1623 में इण्डोनेशिया के द्वीप समूह से अंग्रेजों के निष्कासित होने पर, उन्होंने सूरत में एक छोटा व्यापारिक अड्डा स्थापित किया।

18वीं शताब्दी में भारत एक विशाल कृषिप्रधान और औद्योगिक देश था और भारत के बने हुए कपड़े एशिया और यूरोप को निर्यात किये जाते थे। यह कृषि और उद्योग का संतुलन था जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत अपनी वान्छनीय स्थिति बनाए रख सका क्योंकि भारत के पास निर्यात करने के लिए बहुत कुछ था जबकि आयात करने के लिए कुछ भी नही था।[35] अगर भारतीय समाज का स्वाभाविक विकास होता तो इसमें कोई शक नही कि यहा का पूँजी पति वर्ग सामाजिक और आर्थिक दोनो दृष्टियों से शक्तिशाली बनकर राज्य सत्ता पर अधिकार करता और सामन्ती राज के स्थान पर पूँजीवादी राज्य की स्थापना करता। भारत पर केवल ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया की ही विजय कैसे सम्भव हुई? इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स ने अपने उद्गार यूं व्यक्त किए हैं-

---

[35] R.C. Dutt Economic History of Early British India

> "अरब, तुर्क, तातार तथा मुगल जिन्होने एक के बाद भारत पर विजय हासिल की, शीघ्र ही इतिहास के एक शाश्वत नियम की पुष्टि करते हुए भारतियों जैसे हो गये इसमें बर्बर विजेता अपनी प्रजा की श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा परास्त कर लिये गये। अंग्रेज पहले विजेता थे जो भारतीय सभ्यता से अधिक ऊँचे तथा अगम्य थे। उन्होनें स्थानीय समुदायों को तोड़ कर भारतीय सभ्यता को नष्ट कर दिया, स्थानीय उद्योग को जड़ से उखाड़ फेंका तथा स्थानीय समाज में जो कुछ उन्नत और श्रेष्ठ था उसे मटिया मेट कर दिया। भारत में ब्रिटिश के शासन के एतिहासिक पृष्ठ, विनाश की कहानी के सिवाये और कुछ नहीं करते।[36]

अतः यह सामाजिक आर्थिक संगठन तथा प्रौद्योगिकी का उन्नत स्वरूप था जिसने ब्रिटेन की भारत पर विजय हासिल करनें में मदद की।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य ठीक नही था जो व्यापारिक पूंजी की एकाधिकारिक कम्पनियों का होता है- समुद्र पार के किसी देश का माल और विभिन्न उत्पादनों के व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करके लाभ कमाना था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश माल के लिए मण्डियों की तलाश नही था बल्कि भारत के ऐसे माल की सप्लाई पर कब्जा करना था। जो इंग्लैड और यूरोप में आसानी से बिक सकता है। अपने उद्देश्य प्राप्त करने के लिए कम्पनी ने कई

---

[36] Karl Marx **On Colonialism**, p. 28.

तरह के तरीके अपनाये। इंग्लैण्ड के व्यापारियों को रिश्वत दे कर भारत से दूर रखा गया। कई आर्थिक और राजनीतिक हथकन्डो के प्रयोग से ब्रिटिश सरकार को मनाया गया कि वह कम्पनी को भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह के देशों के साथ व्यापार का एकाधिकार प्रदान करे। कम्पनी के पास व्यापारिक एकाधिकार हेतु प्रर्याप्त धन नही था परन्तु शीघ्र ही कम्पनी की मनोकामना आशा से अधिक पूरी हो गयी जब प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल, बिहार, उड़ीसा और दक्षिण भारत के कुछ हिस्से कम्पनी के अधीन आ गये विजित क्षेत्रों की सरकारी आय पर कम्पनी का पूरा नियंत्रण हो गया। जिससे यह जमीदारों, नवाबो और स्थानीय शासकों की जमापूजी हड़पने के काबिल हो गयी। प्लासी के युद्ध से पूर्व जहां इग्लैंड को भारत में वस्तुओं की खरीदारी के बदले सोना चांदी जैसी कीमती धातुए देनी पड़ती थीं वहां १७६१ के पश्चात कम्पनी द्वारा भारत से निर्यात किये जाने वाले माल के बदले कुछ भी नही लौटाया गया । इस तरह प्रति वर्ष भारत के माल तथा सम्पत्ति साधनों का दोहन होता रहा जिसके परिणाम स्वरूप इंग्लैड अमीर और भारत गरीब होता गया।[37] संसार के इतिहास में यह एक अद्‌भूत उदाहरण था जिसमें किसी देश के व्यापारियों और साहूकारों के समूह में हथियारबन्द व्यक्तियों और समुद्री जहाज़ों की सहायता से राष्ट्रीय झण्डे के नाम पर स्वतंत्र देशों की प्रभुसत्ता पर अधिकार जमाने की कोशिश की हो।[38]

भारत की लूट इंगलैण्ड में पूँजी संचय का परोक्ष स्रोत थी जिसने इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रांति लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग दो प्रतिशत हिस्सा भारत से प्राप्त होने

---

[37] R.P. Dutta, **India Today**. P. 90.
[38] G.Sanderson , **India and British Imperialism, p. 85.**

वाली आय या खिराज था। 50 वर्ष के शासन में अर्थात 1810 तक बंगाल जैसा समृद्ध और खाता-पीता प्रांत बीमारी, अकाल,न्यून पोषण,महामारी आदि की वजह से मुर्दाघर में बदल चुका था। सैंडरसन के अनुसार भारत सरकार एक व्यापारिक तानाशाही थी जो एक विजित प्रदेश पर भाड़े के विजयी सैनिकों द्वारा शासन चला रही थी। इस व्यापारिक तानाशाही को सत्ता लन्दन की सरकार द्वारा प्रदान की गयी थी। लन्दन की सरकार एक व्यापारिक एकाधिकार सरकार थी जिसकी अपनी शक्तियां और विशेषाधिकार संसद-सदस्य की बहुमत की इच्छा पर निर्भर थे और संसद सदस्य इंग्लैण्ड के शक्तिशाली वर्ग से सम्बन्ध रखते थे।[39]

प्लासी के युद्ध के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद के पहले चरण में भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़पने के निम्न तरीके अपनाए गयेः-

क : दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई लगान की मांग स्थायी बन्दोबस्त के अपनाने तक लगातार बढ़ती रही। कम्पनी के शासन काल में बंगाल से प्राप्त किया जाने वाला लगान 1765—66 में 14,70000 पौण्ड 1772—73 में 23,41,000 पौण्ड और 1775—76 में 28,18000 पौण्ड था। लार्ड कार्नवालिस नें स्थायी बन्दोबस्त के माध्यम से लगान की यह राशि 34,00000 पौण्ड निश्चित की।

ख : कार्नवालिस के अग्रिम आदेश तक कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा अपना निजी व्यापार बढ़ाते रहना।

ग : भारतीय वस्तुओं के निर्यात से होंने वाला मुनाफा

घ : कम्पनी के विभिन्न मुलाज़िमों द्वारा भारतीय राजाओं से ज़बरदस्ती हड़पे हुये कई तरह के उपहार तथा अन्य लाभ।

---

[39] वही

जैसे ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में एक प्रादेशिक शक्ति बन गयी वैसे ही इंग्लैण्ड मे इस सवाल को लेकर एक तीव्र संघर्ष छिड़ गया कि भारतीय उपनिवेश किसके हितों या स्वार्थों की पूर्ति करेगा। ब्रिटेन के उभरते हुये नये औद्योगिक वर्ग ने 1813 में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करके मुक्त व्यापार के द्वार खोल दिये जिसके परिणाम स्वरूप भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का दूसरा चरण आरम्भ हूआ।

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्राति तथा भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का दूसरा चरण

भारत के आर्थिक अधिषेश का इतनी भारी मात्रा में इंग्लैण्ड को निर्यात हुआ जिस से इंग्लैण्ड में औधोगिक क्रांति सम्भव हुई। ओधोगिक क्रांति ने ब्रिटिश उद्योगों में उत्पादन को उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया जिसके परिणमस्वरूप ब्रिटेन की आर्थिक प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन आया यह परिवर्तन ब्रिटेन की अर्थ व्यवस्था का वाणिज्यिक पूँजीवाद Mecantile Capiatilism से मुक्त व्यापार पूँजीवाद Free Trade Capitialism में परिवर्तन था।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद अब भारत का उपयोग ब्रिटेन की मशीन निर्मित वस्तुओं के एक बाज़ार के रूप में तथा ब्रिटेन पर आश्रित एक ऐसे उपनिवेश के रूप में करना चाहता था जो ब्रिटिश उद्योगों के लिये कच्चे माल और खाद्यान्नों का उत्पादन एवं पूर्ति करे।

1813 के पश्चात व्यापार का सबसे पहला प्रहार भारत में कपड़ा उद्योग पर पड़ा। भारत में आयात होने वाले ब्रिटिश सूती तथा रेशमी कपड़ों पर जहां तीन से पांच प्रतिशत और ऊनी कपडों पर दो प्रतिशत

कर देना पड़ता था वहां ब्रिटेन को निर्यात किये जाने वाले भारतीय सूती कपड़ों पर दस प्रतिशत, रेशमी कपड़ों पर बीस प्रतिशत और ऊनी कपडों पर तीस प्रतिशत टैक्स देना पड़ता था परिणामस्वरूप 1814 और 1835 के बीच इंग्लैण्ड में बने सूती कपड़े की भारत भें खपत लगभग 10 लाख से बढ़ कर 5 करोड 10 लाँख गज़ से भी अधिक होगयी। इसी अवधि में ब्रिटेन के बाज़ार में जाने वाले भारतीय सूती कपड़े के कट पीसों की सं० 12 $^{1/2}$ लाख से घटकर तीन लाख 6 हज़ार होगयी और 1844 तक तो यह सं० केवल 6300 गज़ रह गयी। 1850 तक स्थिति ऐसी होगयी कि भारत, जो कई वर्षों से समूची दुनिया को कपड़ा भेजता आरहा था, अब निर्यात किये जाने वाले कुल ब्रिटिश सूती कपड़े का एक चौथाई हिस्सा अपने यहां मंगाने लगा। इंग्लैण्ड के मशीन से बने कपड़े ने जहां भारतीय बुनकरों को बर्बाद किया वहीं दूसरी तरफ़ मशीन के बने सूत ने सूत कातने वालों को उजाड़ दिया सूती कपड़ो के अलावा रेश्मी कपड़ों, ऊनी कपड़ों, लोहे, बर्तन, कांच, तथा कागज़ आदि के मामलों में भी यही हालत हुई।[40] जिन जिन क्षेत्रों में रेलें पहुंचनी शुरू होगयीं, वहां वहां सस्ता विदेशी लोहा और इस्पात पहुंच गया जिस से लोहा गलाने वाले देशी उद्योग समाप्त होगये। इस तरह शहरों और गांवों दोनों सीनों में रहने वाले लाखों शिल्पियों और कारीगरों, सूत कातने वालों बुनकरों, कुम्हारों, लोहा गलाने वालों तथा लोहारों के सामने खेती करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं बचा तथा भारत की जो कृषि और उद्योग की मिली जुली पद्धति का देश था, अब जबरन ब्रिटेन के औद्योगिक पूँजीवाद का कृषि प्रधान उपनिवेश बना दिया गया।

---

[40] R.C. Dutta , **Economy History of Early British India**, p. 119.

इस चरण में भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में तीव्र वृद्धि हुई परन्तु इसकी प्रकृति सर्वथा भिन्न थी। भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में अब कच्चे माल का स्थान प्रमुख हो गया, जैसे रूई, नील, अफ़ीम, जूट, तिल्हन, खालें, काफ़ी, चाय आदि। 1813 में भारत से 90 लाख पौंड कपास बाहर गया जो 1833 में बढ़कर 3 करोड 20 लाख पौंड और 1844 में 8 करोड़ 80 लाख पौंड हो गया। 1833 में 3.7 हज़ार पौड भेड़ो की ऊन बाहर गयी जो 1844 में बढ़कर 27 लाख पौंड हो गई। 1833 में तिलहन 2,100 बुशल तिलहन बाहर गया तो 1844 में बढकर 2,37,000 बुशल होगया। इस से भी महत्वपूर्ण बात थी। भारत की ज़रूरतों की, अवज्ञा और यहां की जनसंख्या को भूखा मारते हुये खाद्यान्नों में बढ़ोत्तरी। 1849 में $8^{1/2}$ लाख पौण्ड से अधिक कीमत का अनाज निर्यात किया गया जिसमें गेहूं और चावल मुख्य थे। बागानों मे वृद्धि, अफीम की बंधुवा मज़दूरी तथा रूई के अधिक उत्पादन का भी खाद्यान्नों के ऊपर असर पड़ा। खाद्यान्नों के निर्यात के परिणामस्वरूप भारत में अकाल की परिस्थितियां पैदा होगयीं 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत मे सात अकाल पड़े जिनमें अनुमानतः- 15 लाख लोग मौत के शिकार हुये। शताब्दी के उत्तरार्ध में 14 बार अकाल पड़ जिनमें सरकारी आंकड़ों के अनुसार अनुमानतः दो करोड़ लोगों की जानें गयी।[41]

इस चरण में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कुछ अन्तर्विरोध भी सामने आये जिस से किसानों की क्रय शक्ति बढ़ाने के लिये कृषि का पूँजीवादी आधार पर विकास करने के लिये कम करों की आवश्यक्ता बनाम अतिरिक्त धन को हड़पने कें लिये तथा दिनों दिन बढ़ते हुये

[41] R.P.Dutta , pp. 124-126.

प्रशासनिक खर्च के लिये अधिक कर लगाने की आवश्यक्ता। हस्त कलाओं के विनाश से ज़मीन पर घातक दबाव शुरू होगया, कृषिव्यवस्था अविकसित रही तथा क्रयशक्ति दिनों दिन घटती गयी। एक अन्य विरोधाभास था प्रशासन और सेना पर खर्च बनाम भारत के विकास पर खर्च। इसके अलावा भुगतान सन्तुलन की भी समस्या सामने आयी।

भारत के आर्थिक शोषण को इस नये उददेश्य के अनुसार संभव बनानें के लिए एक नये राजनीतिक एवं आर्थिक ढांचे की आवश्यकता थी। जहां पहले चरण में भारत के आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचे में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं किए गये वहां दूसरे चरण में ये परिवर्तन अनिवार्य हो गये ताकि ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में भारत अपनी नयी भूमिका निभा सके। भारत में सभी ब्रिटिश नागरिकों के लिए मुक्त व्यापार की नीति तथा ब्रिटिश पूंजीपतियों और व्यापारियों को भारत में आने और बसने की छूट के अलावा जमीनदारी और रैयतवारी व्यवस्थाओं के माध्यम से लगान इकठ्ठा करने के तरीको में भी परिवर्तन किए गये। नये प्रशासन न्यायिक व्यवस्था तथा ब्रिटिश व्यापारिक संगठनों के लिए काफी मात्रा में पढ़े लिखे बाबुओं की आवश्यकता थी। स्वयं ब्रिटेन के पास न तो इतनी संख्या में लोग मौजूद थे और न ही वे सभी प्रकार की नौकरियों के लिए ऊँचे वेतन पर ब्रिटिश नागरिकों को रख सकते थे। अतः 1813 के बाद आधुनिक पश्चिमी शिक्षा आरम्भ की गयी जिसे 1833 के बाद और अधिक विकसित किया गया।[42]

[42] विपिन चन्द्र– **Teaching Politics** (1975) में प्रकाशित विपिन चन्द्र के लेख "Colonialism in India" शीर्षक से उद्धृत।

संक्षेप में उपनिवेशवाद के इस चरण में कम्पनी तथा ब्रिटिश पूँजीपतियों ने मिलकर भारत के उद्योग धन्धों तथा व्यापार को नष्ट कर दिया तथा भारतीय वस्तुओं को युरोप के बाजार से निष्कासित कर दिया। वित्तीय पूँजी का प्रभुत्वः ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तीसरा चरण है।

वित्तीय पूँजी का प्रभुत्वः ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तीसरा चरण

ब्रिटिश उपनिवेशवाद का तीसरा चरण 1860 से माना जाता है। यह चरण भारत की आन्तरिक तथा बाह्रय घटनाओं का परिणाम था आन्तरिक दृष्टिकोण से भारत के सम्पूर्ण सामाजिक ढॉचे पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के पहले दो चरणों के विनाशकारी परिणाम सामने आने शुरू हो गये। ब्रिटिश उपनिवेशवाद का सबसे बड़ा शिकार काश्तकार वर्ग था चीनी मिलों और नील के वागों मे काम करने वाले मजदूर विदेशी प्रभुत्व से तंग आ चुके थे। जिसकी परिणति 1857 के विद्रोह में हुआ।

बाह्रय दृष्टिकोण से 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैड के अलावा युरोप के अन्य देश जैसे फ्रांस जर्मनी भी औद्योगिक क्रान्ति के दौर से गुजर चुके थे और इन देशों ने भी एशिया और अफ्रीका के देशों में अपने उत्पादन के लिए मांडियो की तलाश तथा कच्चे माल की खोज आरम्भ कर दी थी। 1860 के बाद मंडियों और कच्चे माल की तलाश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तीव्र संघर्ष छिड़ गया क्योंकि इन दो तत्वों के अभाव में सारा औद्योगिक ढॉचा ढह सकता था। एशिया अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के वास्तविक और सम्भावित कृषि तथा खनिज दोनों तरह के कच्चे माल के लिए इन देशों में होड़ लग गयी।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आरम्भ किए गये मुक्त व्यापार के बावजूद भारत की लूट का पुराना तरीका समाप्त नहीं हुआ। नजराना के नाम पर गृहशुल्क इग्लैण्ड भेजा जाता था। 1851–1901 के बीच शासन करने वाले अधिकारियों द्वारा गृहशुल्क के नाम पर इग्लैण्ड जाने वाली घनराशि में सात गुनी वृद्धि हुई और 25 लाख पौंड से बढ़कर 1 करोड़ 73 लाख पौंड हो गयी। नजराने की इस असाधारण वृद्धि का कारण शोषण के एक नये रूप का जन्म था जो उन्नीसवीं सदी के मुक्त व्यापार में आरम्भ हुआ और 1860 के पश्चात 'महजनी पूँजी' के रूप में विकसित हुआ।

भारत में पूँजी निवेश का मुख्य केन्द्र सार्वजनिक ऋण था जिसे ब्रिटेन ने भारत पर अपनी जकड़ मजबूत करने के लिए अपनाया। 1857 में जब ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में सत्ता संभाली तो कम्पनी से 7 करोड़ रूपये का कर्ज उत्तराधिकार में मिला ब्रिटिश सरकार की देखरेख में यह सार्वजनिक ऋण 18 वर्षो में दो गुना हो गया ब्रिटिश पूँजी विनियोजन का दूसरा क्षेत्र रेल निर्माण था। जिसका प्रधान उद्देश्य भारत के कच्चे माल को अन्दर के हिस्सों से बन्दरगाह तक पहुँचाना और ब्रिटेन से आये तैयार माल को बन्दरगाहों से देश के अन्दरूनी भागों में ले जाना था। इसका दूसरा उद्देश्य सेना को दूर–दूर तक ले जाना ताकि व्रिदोह को आसानी से दबाया जा सके।

रेल निर्माण के प्ररम्भिक दिनों से ही यह विवाद एक चर्चा का विषय था कि रेल निर्माण और नहरों के निर्माण में कौन सा अधिक लाभप्रद है। निश्चित ही नहरों का दोहरा लाभ था अर्थात यह यातायात एवं सिचाई दोनों उद्देश्यों को पूरा करती और मितव्ययिता भी था। मुगल साम्राज्य के पतन के पाश्चात सिचाई साधनों की निरन्तर अवज्ञा

होती रही। कम्पनी ने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। जब ब्रिटिश सरकार ने शासन संभाला तो प्रशासन के बढ़ते हुए खर्चे के लिए अधिक कर लगाने की आवश्यकता थी। परन्तु भारतीय जनता गरीबी के अधोबिन्दु तक पहुँच चुकी थी। अतः सरकार ने सिंचाई की तरफ ध्यान दिया तथा निर्यात और कच्चे काल के लिए व्यापारिक दृष्टिकोण से लाभकारी फसलों जैसे रूई, गन्ना, पटसन, तिलहन आदि उगाने का प्रोत्साहन दिया। परन्तु निरन्तर वर्धमान कराधान के कारण किसान पहले जैसा ही गरीब रहा।

रेल निर्माण तथा सिंचाई परियोजनाओं के अलावा चाय, काफी तथा रबर के बागों के विकास तथा कुछ अन्य छोटे मोटे उद्योगों के विकास के साथ-साथ १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन के निजी उद्योगपतियों का भारत में पूंजीविनियोजन काफी तीव्रता से बढ़ने लगा। 1911 तक भारत ने ब्रिटेन की वित्तीय पूँजी की राशि 45 करोड़ पौण्ड पहुंच चुकी थी। और प्रथम महायुद्ध के समय यह राशि 50 करोड़ पौंड थी। इस पूंजी पर व्याज, मुनाफा तथा प्रत्यक्ष नजराना भारत के साथ किये गये कुल व्यापार निर्मित वस्तुओं तथा जहाजरानी के मुनाफे से कही ज्यादा था। वित्तीय पूँजी द्वारा भारत का शोषण 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20 वीं शताब्दी की प्रमुख विशेषता थी।[43]

समस्त क्षेत्र में पूँजी विनियोजन के लिए बैंको और ऋण देने वाली संस्थाओं की आश्यकता थी। भारतीय उपमहाद्वीप में उद्योगीकरण पर नियंत्रण के लिए भी बैकिंग व्यवस्था पर नियंत्रण आवश्यक था। वित्तीय पूँजी के नियंत्रण शक्ति के लिए सबसे बड़ी भूमिका विदेशी बैंकिग व्यवस्था की थी। जिसने सरकार की वित्तीय और विनिमय नीति

[43] R.P. Datta , op. cit. , p. 139.

के साथ मिलकर काम किया। भारत में बैकिंग व्यवस्था का निर्माण चार प्रकार के संस्थाओं के माध्यम से किया गया। सर्वप्रथम इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्तर पर रिर्जव बैंक ऑफ इंण्डिया थी। जो निजी स्वामित्व में होते हुए भी मुद्रा जारी करने, मुद्रा विनिमय, सरकारी बैंक व्यवस्था और सरकार द्वारा भेजी गयी रकम का नियमन करने तथा कर्ज की व्यवस्था पर एकाधिकार रखती थी दूसरे नम्बर पर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया थी जिसकी स्थापना 1920 में निजी स्वामित्व में हुई। इसका गठन एक केन्द्रीय बैंक की तरह किया गया जो मुद्रा जारी करने और व्यापारिक कार्यो में सरकारी बैंक की भूमिका निभा सकें। तीसरे प्रकार के बैंक थे एक्सचेंज बैंक अर्थात भारत में काम करने वाले ब्रिटिश या विदेशी बैक। इन बैको के मुख्यालय भारत के बाहर थे। और इनका स्वरूप पूर्णतः विदेशी था। ये निर्यात और आयात व्यापार में लगी पूँजी का नियंत्रण करते थे। सबसे निचले स्तर पर इण्डियन ज्वाइंट स्टाक बैंक थे अथवा भारत में पंजीकृत नीजी बैंक थे। 1913 तक विदेशी बैको के पास बैको की जमा राशि का तीन चौथाई हिस्सा था जबकि भारतीय ज्वाइंट स्टाक बैको के खाते में एक चौथाई से भी कम हिस्सा आ सका था।[44]

भारतीय पूँजी पर नियंत्रण तथा औद्योगिक विकास पर प्रभुत्व जमाये रखने के लिए 'मैनेजिगं एजेन्सी' की प्रणाली को अपनाया गया। इस प्रणाली के जरिये कुछ थोड़ी सी मैनेजिगं एंजेसी कम्पनिया, विभिन्न औद्योगिक और कल कारखानों को बढ़ावा देती है: इन पर नियंत्रण देती है: काफी हद तक उनके लिए पूँजी इकट्ठा करती है, उनके संचालन और उत्पादन पर अपना प्रभुत्व जमाये रखती है और उनके

[44] R.P. Datta **India Today** P. 169-170

द्वारा निर्मित माल को बाजार में भेजती है। ऐन्ड्रे यूले एण्ड कम्पनी तथा जार्डन एण्ड स्किनर जैसी फर्म भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इतिहास का अटूट हिस्सा हैं।[45]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अंतिम वर्षो में विदेशी कम्पनियो ने 1943-44 तक, 148 कम्पनियों ने अपने नाम के साथ 'इण्डिया लिमिटेड' लगाकार भारत में अपना पंजीकरण कराया। भारी पूँजी से लगे गैर भारतीय कारखानों ने माचिस, साबुन, सिगरेट, जूता, रबड़, रसायन आदि का जबरदस्त उत्पादन कर भारतीय लघु उद्योगों के लिए खतरा पैदा कर दिया। वित्तीय पूँजी के इस चरण की कुछ बाते विचारणीय हैं। साम्राज्यवाद के सामान्य विकास में उपरोक्त प्रक्रिया को पूँजी का निर्यात कहा जाता परन्तु भारत के संदर्भ में यह कहानी बिलकुल उल्टी थी। भारत में लगाई जाने वाली पूँजी पहले और दूसरे चरण मे प्रत्यक्ष लूट और एकतरफा व्यापार के द्वारा भारत में ही इकट्ठी की गयी थी। ओर फिर इसे ब्रिटेन की ओर से भारत की जनता पर कर्ज के रूप में दर्ज कर लिया गया जिस पर भारत को ब्याज और लाभाशं भी देना पड़ा। दूसरे हलाकि विदेशी पूँजी के विनियोजन में इस चरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथापि व्यवहारिक दृष्टिकोण से रेलवे और सार्वजनिक ऋण के क्षेत्रों को छोड़कर अन्य किसी भी क्षेत्र मे विनियोजन ठोस नही था। फलतः भारत में केवल अत्यधिक पूँजी का विनियोजन ही नही हुआ वरन भारत लगातार ब्रिटेन तथा इसके अन्य उपनिवेशों को पूँजी निर्यात करता रहा।

---

[45] Ibid., pp 165-66

राजनीतिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में ब्रिटिश पूँजी के विनियोजन का अर्थ था साम्राज्यवादी नियंत्रण को और अधिक दृढ़ करना। बम्बई के गर्वनर और प्रशासनाधिकारी रिचर्ड टेम्पल ने 1880 में लिखा- " इंग्लैण्ड के लिए भारत को अपने अधीन रखना अनिवार्य है क्योकि ब्रिटिश पूँजी की भारी मात्रा इस देश में केवल इस आश्वासन पर लगाई गई है कि भारत में ब्रिटश शासन चिर स्थायी रहेगा।" इस चरण में साम्राज्यवाद के उदारवादी सिद्धान्तों का स्थान ब्रिटिश शासन के स्थायित्व तथा प्रजा हितकारी तानाशाही (Benevolent Despotism) ने ले लिया।

उपनिवेशवाद के इस तीसरे चरण में भारत असली अर्थो में ब्रिटेन का एक उपनिवेश बन गया। भारत ब्रिटेन में निर्मित वस्तुओं के लिए बाजार था कच्चे माल तथा खाद्यानों का स्रोत था तथा ब्रिटिश पूँजी के विनियोजन का महत्वपूर्ण क्षेत्र था औद्योगिक क्रांति के बाद जहा ब्रिटेन संसार का प्रमुख विकासशील देश बन गया, वहा भारत को दिन प्रतिदिन अविकसित किया गया।

उपनिवेशवाद की प्रकृति तथा महत्व-

मार्क्स ने 1853 में भारत पर उस समय तक एक लेखमाला लिखी जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर अन्तिम बार ब्रिटिश संसद के सामने आया। मार्क्स के अनुसार "अरब, तुर्क, तातार, मुगल जिन्होने एक के बाद भारत पर विजय हासिल की शीघ्र ही भारतीय संस्कृति का हिस्सा बन गये। इतिहास के एक शाश्वत नियम की पुष्टि करते हुए बर्बर विजेता अपने प्रजा की श्रेष्ट सभ्यता द्वारा परास्त हो गये। इसके विपरीत ब्रिटिश शासन सर्वथा भिन्न था पुराने विदेशी

विजेताओं भारत के आर्थिक आधार में किसी तरह का परिवर्तन नही किया और धीरे से इसी ढ़ाचे में रच गये। इसके विपरीत ब्रिटिश शासन ने अर्थ व्यवस्था के पुरान आधारों का लगभग पूर्ण विनाश कर दिया। और वह इंग्लैण्ड से नियंत्रित करने वाला एक विदेशी शासन बना रहा। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने करघे और चरखों को तोड़कर एक ऐसी महानतम सामाजिक क्रान्ति कर डाली जो एशिया में पहले कभी नही देखी-सुनी गयी थी।[46]

परन्तु मार्क्स ने ग्रामीण व्यवस्था के पतन और भारतीय समाज के पुराने और आर्थिक आधार के विनाश पर आशु नही बहाये। पूँजी वादी सामाजिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप होने वाले कष्टों के साथ-साथ मार्क्स ने ग्रामीण व्यवस्था के प्रतिक्रियावादी चरित्र का भी देखा और मानव जाति के विकास के लिए उस व्यवस्था के विनाश की अपरिहार्य आवश्यकता को भी महसूस किया।[47] जहां मार्क्स ने भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति को सुंअरपन (Swarnish) की संज्ञा दी वहाँ उसने भारत पर अंग्रेजो की जीत को 'इतिहास का अनभिप्रेत उपकरण' (Uncoscious tool of history) भी माना।[48] ब्रिटिश उपनिवेशवाद का भारत में परोक्ष लाभ भी हुए जैसे विचारों का सामान्य विकास, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना समाज में ऐसे शिक्षित वर्गो का उदय जिसे विचारों की स्वतन्त्रता प्राकृतिक अनिवार्य लगती थी, राष्ट्रीय भावना की जागृति आदि।[49]

---

[46] Desai, AR, **Social Background of Indian Nationalism**
[47] Marx and Engels **On Coloniailism** ,p. 81
[48] R.P. Dutta op. cit, p.92
[49] Moor Banigton **Social Historiy of Dictatoship and Democracy** (Penguine 1966) pp 347

जब मार्क्स ने भारत में अंग्रजो के पूँजीवादी शासन को पूनर्जीवन देने वाले की भूमिका की चर्चा की तो उसने यह स्पष्ट किया कि वह साम्राज्यवाद की इस भूमिका का उल्लेख कर रहें है कि इसने आधुनिक प्रगति के लिए भौतिक परिस्थितिया तैयार कर दी। लेकिन यह नई प्रगति भारतीय जनता केवल स्वतन्त्र भारत में ही कर सकती है या फिर ब्रिटेन में मजदूर वर्ग की विजय से यह कार्य समपन्न हो सकता है, जब तक ऐसा नही होता है तब तक भारत में साम्राज्यवाद द्वारा लायी गई सभी भौतिक उपलब्धियां भारतीय जनता की स्थिति में न तो कोई लाभ पहुँचाएगा और नही उसमें सुधार होगा। [50]

[50] Marx and Engels **On Colonialism** ,p 81

अध्याय-दो

उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद का सैद्धान्तिक विश्लेषण

उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद का सैद्धान्तिक विश्लेषण

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विरोधियों की नीतियों की निन्दा करने के लिए साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक समय था जब साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद को राष्ट्रीय हितों के लक्ष्यों की प्राप्ति तथा पिछड़े हुए राष्ट्रों के विकास के लिए वैध तथा नैतिक उपकरण माना जाता था। परन्तु यह आज युद्ध, दमन, शोषण, विस्तारवाद, दुख, कष्ट, घृणा, अप्रतिष्ठा आदि के कारण माने जाते है तथा इसलिए अवैध तथा अनैतिक उपकरण है। सौभाग्य से युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भूतपूर्व साम्राज्यवादी शक्तियों के साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशी शासन का अन्त हो गया और प्रायः सभी उपनिवेश तथा साम्राज्यिक राज्य इन दो पिशाचों के पंजों से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हो चुके हैं। तथापि उपनिवेश विरोधी तथा साम्राज्यवाद विरोधी प्रतिक्रियाएं पूर्णतया सफल नहीं हुई, क्योंकि नये बने प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य आज भी निरन्तर नव-उपनिवेशवाद के युग में रह रहे है। नव-उपनिवेशवाद का अर्थ है-राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद पहले वाली साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवाद शक्तियों के उपर आर्थिक निर्भरता की स्थिति। इस तरह नव उननिवेशवादी नव साम्राज्यवादी विरोधी नीतियां आज के युग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निरन्तर क्रिया प्रतिक्रिया कर रही है। इसलिए इन तीनों वादों

साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद की चर्चा विस्तार से आवश्यक है।[1]

पूर्वी युरोप में समाजवाद का अन्त और सोवियत युनियन के विखण्डन के साथ ही वीसवीं सदी का अन्त हो गया, परन्तु पुँजीवाद अपनी अमर कहानी को सर्वत्र विखेर रहा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा राज्य के निर्देशन में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का अवगाहन करने वाले तृतीय विश्व के देश आज वैश्वीकरण की वकालत कर रहें है वैश्वीकरण के दौर में विश्व की आर्थिक शक्तियां जिनकी मुद्रा बाजार की विनिमय दर को निर्धारित कर रहीं है तृतीय विश्व के देशों की चाहत बन गयी है। बहुउद्देश्यी निगमों द्वारा मुद्रा का निवेश एक शुभ संकेत माना जा रहा है। यह निवेश उनकी शर्तो तथा प्रयोजक के समन्वय द्वारा निर्धारित हो रहा है। इनके नित्य नये आर्थिक अवधारणाएं सम्पूर्ण विश्व को लुभा रही जो अन्तत पूँजीवाद की विजय प्रदर्शित करती है। यह इतिहासकारों तथा भविष्य वक्ताओं को आर्थिक जीवन का सामान्य कार्य लगने लगा है।[2]

पूँजीवाद की प्रवृत्ति जो कि अन्ततः साम्राज्यवाद में परिणत होता है, का अभ्युदय कब और कैसे सम्भव हुआ, विशेषतर इंग्लैंड में जो कि विश्व का प्रथम औद्योगिक राष्ट्र है। इस सम्बन्ध में मार्क्स अपनी पुस्तक The Critique of Political Economy (1859)[3] में जोरदार ढंग से कहता है कि पूंजीवाद की जड़ सामन्तवाद में निहित है। मार्क्स का मानना है कि उत्पादन के साधनों में परिवर्तन से सामन्तवाद पूँजीवाद

---

[1] यु आर. घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार

[2] Irfan Habid द्वारा **Capitalism in History** पर पश्चिम बंगाल इतिहास संसद में 1995 में दिये गये व्याख्यान से उद्धृत।

[3] **A Contribution to the Critique of Political Economy** ,Culcutta, p 1

में बदल जाता है।[4] साम्राज्यवाद को अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुए रेमण्ड ब्यूल (Raymond Buell) लिखते हैं,-

> "एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार से मांग की गयी प्रत्येक अनुचित मॉग प्रत्येक आक्रामक युद्ध साम्राज्यिक कहा जाता है। साम्राज्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसमें कई प्रकार के पाप आ जाते है।"
>
> (Every Unjustifiable demand made by one government upon another - every aggressiveness is called imperialistic. Imperialism is a word which covers many sins.)

इस शब्द का प्रयोग स्पष्टतया अपने विरोधियों की नीतियों की आलोचना करने के लिए किया जाता है। इससे साम्राज्यवाद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन हो जाता है। साम्राज्यवाद की परिभाषा के रास्ते में आने वाली कठिनाईयों पर रोशनी डालते हुए पामर तथा पर्किन्स लिखते है,-

> "साम्राज्यवाद पर चर्चा की जा सकती है इसकी भर्त्सना की जा सकती है इसका समर्थन किया जा सकता है इसके लिए मरा जा सकता है परन्तु इसकी आम तौर पर स्वीकृति योग्य कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती।"

पामर तथा पर्किन्स द्वारा व्यक्त की गयी कठिनाई के निवाणार्थ कतिपय विद्वानों ने कुछ परिभाषाएं की है। चार्ल्स ए. वीयर्ड के अनुसार-

> "साम्राज्यवाद वह होता है जिसमें एक देश की सरकार और कूटनीतिक मशीनरी दूसरी जाति के लोगों के प्रदेशों, रक्षित राज्यों तथा प्रभाव क्षेत्रों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है और

---

[4] Capital Moor Aveling, London p. 776.

पूँजीवाद जो कि अति बौद्धिकता का परिचायक है, साम्राज्यवाद में परिवर्तित होने को अपने को रोक नहीं पाता। साम्राज्यवाद को परिभाषित करने का एक सार्थक प्रयत्न शुम्पीटर के द्वारा किया गया–

> "साम्राज्यवाद एक ऐसी वंशानुगत शक्ति है जिसका आरम्भ प्राचीन काल में हुआ था बुद्धिवाद का यह युग जिसका पतन काल है तथा जो संकोची है फिर भी इतना शक्तिशाली है कि अपने प्रतिद्वन्दी पर अब भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। यह पूंजीवाद का विस्तार है।"

साम्राज्यवाद एक प्राचीन अवधारणा है जिसके भिन्न–भिन्न स्वरूप है अधुनातन उसकी छाया अल्प विकसित एवं विकासशील देशों को ग्रहण की तरह निगलता जा रहा है। इसके वास्तविक स्वरूप को समझने में अनेक परेशानियां दृष्टिगोचर हैं जिनमें दो बाधाएं सर्वमान्य है। पहली बाधा तो यह है कि एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के विभिन्न देशों को स्वतन्त्र हुए काफी समय बीत चुका है अतः वहाँ के लोगों के प्रत्यक्ष औपनिवेशिक अनुभव और आज की प्रबल राष्ट्रीय भावना के बीच एक लम्बा फासला आ गया है। एशिया तथा अफ्रीका के देशों में स्वतन्त्र होने के बाद जो शासन प्रणालियां आयीं उन्होंने अपने देशवासियों में यह भावना भरने की कोशिश की कि साम्राज्यवाद तो बीते युग की चीज है। दूसरी बाधा औपनिवेशिक काल के बाद की विश्व परिस्थिति से उत्पन्न हुई। युरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों का विश्व राजनीति पर प्रभाव कम होता गया है साथ ही संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था से विभिन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक समानता का वातावरण उत्पन्न हुआ है। अतः सामान्य लोगों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि आज भी साम्राज्यवाद दूसरों पर आधिपत्य कायम करने की एक जीवन्त प्रक्रिया बन सकता है।

परन्तु दोनों बाधाएं वस्तु-स्थिति की भ्रामक समझ पर आधारित है। पहली बात हो यह है कि साम्राज्यवाद ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका की समाज व्यवस्था को ऐसी आधारभूत क्षति पहूँचायी है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ दशकों में ही उसकी गहरी छाप को मिटा पाना असंभव है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि साम्राज्यवाद को भलीभांति समझा जाय क्योंकि इसके बिना हम न तो अपनी स्वतन्त्रता संघर्ष के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते है; न वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं की सतही जानकारी हासिल कर सकते हैं, बल्कि यह कहना अधिक ठीक होगा कि साम्राज्यवाद की सही समझ के अभाव में तो उत्तर-औपनिवेशिक (Post-Colonial) जन-समाजों के मानसिक गठन को भी नहीं समझा जा सकता।

दूसरे विभिन्न राष्ट्रों के मध्य समानता पहले की तरह अब भी मिथक ही है, हालांकि संयुक्त राष्ट्र संघ में तथा अन्यत्र एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरीकी देशों के सामूहिक प्रयत्नों के फलस्वरूप साम्राज्यवादी युग की घोर विषमताओं में एक हद तक कमी आयी है।[8] व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व सर्व था नये रूपों में प्रकट हुआ और बड़े देशों पर निर्भरता में वृद्धि हुई है। हाल के वर्षों में नव-उपनिवेशवाद तथा अधिपत्य नयी-नयी कुटिल शक्लें धारण करके प्रकट हो रहा है। हम आये दिन देखते हैं कि दूसरे देशों पर कब्जा करके वहाँ कठपुतली शासन स्थापित कर लिया जाता है, या फिर आर्थिक सांस्कृतिक घुसपैठ द्वारा उनकी स्वतन्त्रता का हनन किया जाता है। अभी कुछ दिनों पहले आतंकवाद के नाम पर अफगानिस्तान पर मृत्यु का जो ताण्डव नृत्य हुआ उससे सम्पूर्ण मानवता सहम गयी।

---

[8] साम्राज्यवाद का सिद्धान्त- मनोरंजन मोहंती ,सत्या रांय की पुस्तक 'भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद से उद्धृत, पृ-1

आतंकवाद के नाम पर जो घिनौना खेल वहाँ खेला गया वह आज भी निरन्तर जारी है। अमरीकी सेना वहाँ आज भी वर्तमान है और पौरूष का नग्न प्रदर्शन कर रही है। पश्चिम एशिया में इजराईल के माध्यम से खाड़ी के देशों में स्थित अपार तेल भण्डार को पाने के लिए रोज शक्ति का प्रदर्शन हो रहा है। इसके बावजूद भी कुछ दबे हुए राष्ट्रीय समूहों ने जाग्रत होकर आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग की है। 1970 के दशक से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के मूल स्वरूप को समझने के प्रति लोगों की दिलचस्पी बढ़ी है।

साम्राज्यवाद का अध्ययन तीन कारणों से महत्वपूर्ण है। पहला कारण तो यह है कि आगे आने वाले एक लम्बे समय तक हम उन समस्याओं से जूझते रहेंगे जो हमारे समाज में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की वजह से पैदा हुई थी। दूसरे नव-उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपों की गतिविधियाँ आज भी जारी है जिन्हें ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में ही अच्छी तरह से समझा जा सकता है। तीसरे, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद को समझने के लिए साम्राज्यवादी दॉव-पेंच को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

साम्राज्यवाद लोगों पर बाह्य प्रभुत्व का एक रूप है। जब विभिन्न समाजों या समुदायों ने संगठित हमलावरों से अपने आपको अलग करके देखना शुरू किया, तभी से किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व माना जा सकता है। इसमें हमेशा से ही किसी विदेशी सत्ता के राजनीतिक अधीनता का भाव निहित है। पुराने जमाने में सैनिक अभियान द्वारा साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति से उपनिवेशवाद का तत्व अस्तित्व में आया। कुछ विजेता तो केवल आर्थिक लूट-पाट में रूचि रखते थे, जबकि कुछ अन्य यह चाहते थे कि मसाले, सोना, चाँदी

जैसी दुर्लभ चीजों की सप्लाई अपने देश को होती रहे। कई अपनी जाति, धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता की श्रेष्ठता के बारे में इतने आश्वस्त थे कि दूसरे देशों पर अधिकार करके वहाँ अपनी सभ्यता-संस्कृति को फैलाना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। कई अभियानों के पीछे यह इच्छा थी कि उपनिवेश स्थापित करके नये मार्ग की तलाश की जाय। कुल मिलाकर औद्योगिक क्रान्ति अर्थात 1760 से आरम्भ होने वाले दशक से पहले युरोप में औपनिवेशिक विस्तार का यह रूप था।

अपनी तकनीकी तथा संगठनात्मक श्रेष्ठता का उपयोग करते हुए साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने अधीनस्थ उपनिवेशों पर तरह-तरह से नियन्त्रण लगाने शुरू किए। इन नियन्त्रणों का उद्देश्य या तो बहुमूल्य धातुओं, मसालों, गुलामों आदि की आपूर्ति को सुनिश्चित करना था या गोरे लोगों को इन उपनिवेशों में बसाना था, या फिर वाणिज्य तथा प्रतिरक्षा सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त करना था। यह कार्य मूलतः व्यापारियों तथा योद्धाओं के सहयोग से पूरा किया गया।

इन सभी तत्वों ने औद्योगिक क्रान्ति से पहले कम से कम दो शताब्दी तक वाणिज्यिक पूँजीवाद (Mercantile Capitalism) की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा किया।

साम्राज्यवाद का उदय

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूँजीवाद की आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन आया, जिसके परिणाम-स्वरूप पूंजीवाद के एक नवीन चरण का आरम्भ हुआ। यह चरण साम्राज्यवाद का था। उस समय तक औद्योगिक पूँजी का महत्व पूरी

तरह कायम हो चुका था। 1870 से आरम्भ होने वाले दशक से कुछ अन्य प्रवृत्तियां उभरने लगीं। यह प्रवृत्तियां थी प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद का कमजोर होना तथा उसके स्थान पर एकाधिकार पूँजीवाद का विकास, वित्तीय अल्पतन्त्रों (Oligarchies) का उदय तथा उपनिवेशों को पूंजी का निर्यात और इन सबके के परिणाम स्वरूप औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा पूरे संसार में उपनिवेश हथियाने की होड़। पूँजीवादी विकास के इस विशेष चरण अर्थात एकाधिकार पूंजीवाद को लेनिन ने साम्राज्यवाद की संज्ञा दी।

राजनीतिक प्रभुत्व का यह तत्व एकाधिकार पूँजीवाद से पहले, यह कहें कि औपनिवेशिक शासन से औपचारिक मुक्ति के बाद भी मौजूद था। दूसरे देश के लोगों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम रखने की यह प्रक्रिया विभिन्न रूपों में तथा विभिन्न परिमाण में अब भी कायम है। किन्तु साम्राज्यवाद का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्थिक प्रभुत्व साम्राज्यवाद का मूल ऐतिहासिक तत्व रहा है। प्रभुत्व की परिभाषा में राजनीतिक अधीनता का भाव निहित है और सभी ऐतिहासिक चरणों में साम्राज्यवाद के अन्तर्गत यह अर्थ भी शामिल रह है। किन्तु प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा इसे आम तौर पर आर्थिक शोषण से मिलती है।

एकाधिकार पूँजीवाद से पहले के साम्राज्यवादी विकास के चरणों को कुछ लोग "पुराने साम्राज्यवाद" की संज्ञा देते हैं और 1870 के बाद के चरणों को "नया साम्राज्यवाद" कहते हैं। कुछ अन्य विद्वान पुराने चरण को "उपनिवेशवाद" कहकर पुकारते हैं जिसका सीधा अर्थ है एक विदेशी क्षेत्र पर प्रत्यक्ष शासन के माध्यम से तरह-तरह के लाभ उठाना। इन लोगों में आर्थिक लाभ के साथ-साथ विदेशी जनसंख्या को

विदेशी भूमि में बसाना भी शामिल है। दूसरी ओर साम्राज्यवाद प्रत्यक्ष रूप से औपनिवेशिक शासन का रूप ले भी सकता है और नहीं ले सकता है, किन्तु हर हालत में उसकी कोशिश यह रहती है कि एकाधिकार पूँजीवादी गतिविधियों के नये-नये क्षेत्रों में विस्तार की रक्षा की जा सके। कुछ उदाहरणों में यह भी संभव है कि साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के परम्परागत अन्तर की पुष्टि न की जा सके और अर्द्ध-उपनिवेशवाद तथा नव-उपनिवेशवाद जैसे तत्वों से समस्या और भी उलझ गयी है।

“साम्राज्यवाद” शब्द अंग्रेजी के इम्पीरियलिज्म (Imperialism) शब्द का अनुवाद है। स्वयं “इम्पीरियलिज्म” शब्द लैटिन शब्द “इम्पेरेटर” (Imperator) से आया है जिसका सम्बन्ध केन्द्रीकृत सत्ता की अधिनायकवादी शक्तियों तथा प्रशासन की मनमानी पद्धतियों (Arbitary Methods) से था। (इम्पेरियालिज्म) साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग पहले पहल फ्रान्स में हुआ था। 19वीं सदी के चौथे दशक में नेपोलियन के विस्तारवाद के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया था और इसके बाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाने लगा। वास्तव में यह एक भावात्मक (Emotive) शब्द है और इसका प्रयोग सैद्धान्तिक शब्द के रूप में कभी कभार ही किया जाता है। एक राज्य जब किसी दूसरे राज्य के खिलाफ एक खास तरह का आक्रामक व्यवहार करता है तो उसे सूचित करने के लिए “साम्राज्यवाद” शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह व्यवहार सीधे-सीधे या तो औपचारिक प्रभुसत्ता (Formal Sovereignty) का रूप ग्रहण कर सकता है या फिर आर्थिक तथा राजनीतिक आधिपत्य के अन्य किसी

रूप का। किन्तु हर हालत में यह दो देशों के बीच अधिपत्य तथा अधीनता का सम्बन्ध व्यक्त करता है।[9]

जब विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने साम्राज्यवाद की धारणा का अध्ययन करना शुरू किया जो इन विचारकों के दो सम्प्रदाय उभर कर सामने आये जिन्होनें अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार साम्राज्यवाद की व्याख्या की। ये सम्प्रदाय इस प्रकार हैं:-

क- ''ऐतिहासिक सम्प्रदाय' जिसके समर्थक थे जोसेफ शुम्पीटर (Joseph Schumpeter), राबिन्सन (Robinson), गैलेगर (Gallegher), रेनर (Renner) आदि

ख- 'मार्क्सवादी सम्प्रदाय' जिसके प्रमुख सूत्रधार रडाल्फ हिल्फर्डिग, कार्ल काटस्की, रोजा लक्जेमबर्ग तथा लेनिन हैं; और

ग- उग्र उदारवादी सम्प्रदाय (Radical liberal school) जिसके नेता जे.ए. हाब्सन थे। हाब्सन उन पहले विचारकों में थे जिन्होंने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को पहले पहल व्यवस्थित रूप में सामने रखा और इसे ही आगे चलकर लेनिन ने विकसित किया।

शुम्पीटर के अनुसार कोई राज्य जब बिना किसी स्पष्ट लक्ष्य के बल प्रयोग द्वारा असीमित विस्तार की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तो हम उसे साम्राज्यवाद की संज्ञा देते है। राबिन्सन तथा गैलेधर यह मानते है कि विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियाँ किसी देश को साम्राज्यवाद के रास्ते पर चलने के लिए मजबूर कर देती है।

एक उग्रवादी के रूप में जे. ए. हाब्सन ने इस तत्व की आर्थिक शब्दावली में व्याख्या करने की कोशिश की। हाब्सन ने युरोपीय विस्तारवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह आधुनिक पूँजीवाद में

---

[9] *साम्राज्यवाद का सिद्धान्त*- मनोरंजन महंती; ''भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद'' संपादक सत्या राय की पुस्तक से उद्धृत पृ. 4

कुछ अल्प उपभोगवादी प्रवृत्तियों (Under consumptionist tendencies) तथा विकास के उन्नत चरण (Advanced stage) में पूरी प्रणाली के अन्तर्गत कुछ अपसमायाजनों (Maladjustments) जैसे हर राष्ट्रीय आय के असमान वितरण से उत्पन्न होने वाली बचत एवं उपभोग के बीच का असन्तुलन का परिणाम है। उनका विचार था कि यदि श्रमिकों की आय में वृद्धि करके किसी देश के उपभोग स्तर को उँचा उठाया जा सके तो एक लम्बे अर्से के लिए देश के अन्दर ही बाजार का विस्तार होगा और औपनिवेशिक विस्तार की आवश्यकता नहीं रहेगी। यही वह स्थल था जहाँ लेनिन का हाब्सन के साथ गहरा मतभेद था।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उदारवादी या ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने साम्राज्यवाद के राजनीतिक तथा सामाजिक पहलू पर जोर दिया और हाब्सन जैसे उग्र उदारवादी भी यह मानने को तैयार नहीं थे कि स्वयं पूँजीवाद ही इस विस्तार के मूल में है। उनकी दृष्टि में यह मात्र एक उपसमायोजन (Maladjustment) था जिसे यदि समझ लिया जाय तो ठीक किया जा सकता है।

किन्तु मार्क्सवादी सम्प्रदाय यह मानता है कि साम्राज्यवादी दर्शन पूँजीवादी प्रणाली में ही अन्तर्निहित है और इसे स्वयं इस प्रणाली का ध्वंश करके ही समाप्त किया जा सकता है। हिलफर्डिंग की केन्द्रीय धारणा वित्तीय पूँजी की धारण थी जिसमें बैंको का तेजी से विस्तार होगा। जहाँ मार्क्स बैंको को औद्योगिक पूँजी (Industrial Capital) के अधीनस्थ (Subordinates) मानते थे, हिल्फर्डिग उत्पादन में बैंकों की अहम भूमिका स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में अपने व्यापक वित्तीय साधनों की वजह से बैंक उद्योगों पर कारगर ढंग से अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते थे और इजारदारों को बढ़ावा दे सकते थे। यह

इजारेदार कालान्तर में उपनिवेशों में भी पहुँच सकते थे जिससे वे अपनी पूँजी का लाभप्रद रूप में निवेश कर सके। इस प्रवृत्ति ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया।[10]

पामर तथा पकिन्स साम्राज्यवाद का वर्णन करने के लिए अलग रास्ता अपनाते हैं। वे साम्राज्यवाद की निम्नलिखित मुख विशेषताएं बताते है:[11]

1- साम्राज्यवाद बेहद आत्मपरक शब्द है। लेखक इसे अपनी इच्छानुसार परिभाषित करते है।

2- साम्राज्यवाद किसी अन्य चीज की तुलना में अधिक विशेषक है। साम्यवादी इसका प्रयोग पश्चिमी राज्यों की निन्दा करने के लिए करते है तथा पश्चिमी शक्तियां साम्यवाद को अस्वीकार करने तथा आलोचना के लिए इसका प्रयोग करती है।

3- साम्राज्यवाद की विभिन्न परिभाषाओं में चार बातें सर्वमान्य है:

क- साम्राज्यवाद की गैर आर्थिक प्रेरणाएं भी हो सकती हैं, नही भी।

ख- यह नीति बड़े सीमित संचालन के लिए चलाई जा सकती है- 'एक विशाल साम्राज्य' एक आवश्यक लक्ष्य नहीं होता।

ग- इसमें नस्लवाद का शामिल होना सदैव आवश्यक नहीं होता। एक अकेली जाति में भी साम्राज्यवाद हो सकता है।

घ- यह योजनाबद्ध हो भी सकता है तथा नही भी

---

[10] *साम्राज्यवाद का सिद्धान्त-* मनोरंजन महंती; भारत में उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रवाद सम्पादक सत्या राय की पुस्तक से उद्धृत पृ. 5

[11] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार- यु. आर. घई- पृ. 265

4- साम्राज्यवाद साम्राज्यिक उपनिवेशों के निवासियों की भलाई का ध्यान रख भी सकता है और नहीं भी।

5- यह साम्राज्यवादी देशों के लिए आर्थिक रूप से लाभकारी या फिर निश्चित रूप से हानिकारक हो सकता है।

साम्राज्यवाद की विभिन्न परिभाषाओं की चर्चा के अन्त में पामर तथा पर्किन्स साम्राज्यवाद के बारे में अपने अपने विचार देते हैं। उनके विचार में-

> "साम्राज्यवाद एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें एक क्षेत्र तथा उस क्षेत्र के निवासी दूसरे क्षेत्र तथा सरकार के अधीन होते है- अधीनता ही साम्राज्यवाद का सार है यह एक ऐसा शक्ति सम्बन्ध है जिस पर किसी प्रकार की कोई नैतिक नियमितता नहीं होती है।"[12]

मारगेन्थो के विचार

मोरगेन्थो 'Politics Among Nations' के प्रणेता थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी विचारधारा का सैद्धान्तिक प्रणयन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक में यह माना कि उनका सिद्धान्त यथार्थवादी इसलिए है कि यह मानव स्वभाव को उसके उसी वास्तविक यथार्थ रूप में देखते है जो इतिहास में अनादिकाल से बार-बार परिलक्षित होता रहा है।[13]

---

[12] "Imperialism is a relationship in which one area and its people are subordinate to another area and its government. Imperialism in essence always involves subordination, it is a power relationship with outward inspirations of any kind. Palmner & Perkins. **Quite International Relitions Theroy and Practice**" as quoted by U.R. Ghai

[13] Morgenthau's **Politics Among Nations** ,p.3

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद को परिभाषित करने के लिए मोरगेन्थो विलोपन विधि का अनुकरण करते है। साम्राज्यवाद क्या है? इसको स्पष्ट रूप से बताने से पहले वे बतलाते है कि साम्राज्यवाद क्या नही है।

मार्गेन्थो का मानना है कि तीन नीतियां साम्राज्यवादी नहीं हो सकती है तथा साम्राज्यवाद की परिभाषा देते समय इन तीन नीतियों के नियमों को साम्राज्यवादी नहीं बतलाना चाहिए:-

1- साम्राज्यवाद विस्तारवादी होता है। इसका उददेश्य यथापूर्व स्थिति को समाप्त करना होता है पहले स्थान पर मोरगेन्थो लिखते है, "प्रत्येक विदेश नीति, जिसका उद्देश्य राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाना है, आवश्यक नहीं कि सामाज्यवादी नीति ही हो।" (Not every foreign policy aiming at an increase in the power of a nation is neeessarily a manifestation of imperialism) [14] सभी राष्ट्र जो अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं, साम्राज्यिक नहीं हो सकते क्योंकि साम्राज्यवाद में विस्तार शामिल होता है। 'साम्राज्यवाद' तथा शक्ति में वृद्धि 'पर्यायवाची नही है। साम्राज्यवाद एक ऐसी नीति है जिसका उददेश्य दो या दो से अधिक राष्ट्रों के शक्ति सम्बन्धों के प्रतिक्रम पर यथापूर्व स्थिति को समाप्त करना होता है। ऐसी नीति जो शक्ति सम्बन्धों को छेड़े बिना सामन्जस्य द्वारा शक्ति को बढ़ाना चाहती है, साम्राज्यिक नहीं है क्योंकि यह यथापूर्व-स्थिति के ढांचे के अन्दर ही काम करती है।

2- साम्राज्यवाद सुरक्षित रहने की स्थिर नीति नही (Imperialism is not a static policy of preservation)

---

[14] U.R. Ghai - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त तथा व्यवहार से उद्धृत पेज. 265

दूसरे स्थान पर मारगेन्थो लिखते हैं, प्रत्येक विदेश नीति जिसका उद्‌देश्य पहले से ही विद्यमान साम्राज्य को बनाए रखना है, साम्राज्यवादी नही हो सकती" (Not every foreign policy aiming at the preservation of an empire that already exists is imperialism)[15]। इस प्रकार अंग्रेजों का भारत विजय एक साम्राज्यवादी कृत्य था परन्तु उनका भारत पर शासन साम्राज्यवादी नहीं था क्योंकि इसका उद्‌देश्य यथास्थिति को बनाए रखना था।[16] प्रायः साम्राज्यवाद को विद्यमान साम्राज्यवाद को बनाए रखने की नीति या शक्ति सम्बन्धों में प्रधानता के साथ गलत रूप से जोड़ दिया जाता है। वास्तव में साम्राज्यवाद को स्थिर रूढिवादिता से नहीं मिलाना चाहिए। साम्राज्यवाद का अर्थ राष्ट्र के भू-क्षेत्र से बाहर एक शक्ति को बढ़ाना। यह यथापूर्व स्थिति से भिन्न है। इसमें राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि शामिल है न कि राष्ट्रीय शक्ति को बनाए रखना। एक विदेशनीति जो यथापूर्व स्थिति को सुरक्षित बनाए रखना चाहती है साम्राज्यवादी नहीं कही जा सकती है। सिर्फ विदेशनीति जो यथा पूर्व स्थिति को बदलना चाहती है साम्रज्यिक है।" (A foreign policy which seeks to maintain and preserve the *status quo* can not be called imperialistic, the foreign policy that seeks to change the *status quo* alone be called imperialsitic)[17]। ब्रिटिश साम्राज्य को बनाए रखने की चचिल की नीति यथापूर्व-स्थिति की नीति थी न कि साम्राज्यवादी। मार्गेन्थो के अनुसार- "1942 में जब चर्चिल ने 'ब्रिटिश साम्राज्य के समापन की अध्यक्षता' करने से इन्कार कर दिया तो वह एक साम्राज्यवादी के रूप में नहीं बोल रहे थे, बल्कि विदेशी

[15] Hans J. Morgenthau, **Politics Among Nations** Alfred A. Knopt Ink ,New York, p. 45,
[16] Ibid p. 61
[17] Ibid, p. 45

मामलों में एक रूढिवादी तथा साम्राज्य की यथापूर्व स्थिति के रक्षक के रूप में बोल रहे थे।

३- साम्राज्यवाद एक आर्थिक तन्त्र नहीं है: तीसरे स्थान पर मोरगेन्थो साम्राज्यवाद को आर्थिक नीति का उपकरण मानने से भी इन्कार करते है। वे कहते है चाहे आर्थिक लाभ साम्राज्यवाद के उद्देश्यों में से एक है फिर भी यह कभी भी साम्राज्यवाद का आधार तथा केन्द्र बिन्दु नहीं बना, न बन सकता है अंगेजो के पूर्व भारत का युरोप मध्य एशिया तथा अफ्रीका के देशों को व्यापार साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति नहीं थी बल्कि विदेशों से स्वर्ण के रूप में अतिरिक्त आय का प्रभाव था।[18] साम्राज्यवाद एक ऐसा राजनीतिक साधन है जिसके द्वारा साम्राज्यवादी नीति के अनुसार राष्ट्र के भू-क्षेत्र से पार-राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। "साम्राज्यवाद आर्थिक उद्देश्यों से निर्धारित नहीं हो सकता आर्थिक लाभ साम्राज्यवाद के उप उत्पादन ही हैं- पूँजीवाद साम्राज्यवाद नही है।"[19]

साम्राज्यवाद क्या नहीं है इसका वर्णन करने के पश्चात मारगेन्थो साम्राज्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं, "आर्थिक लाभों भू-क्षेत्र अधिग्रहण तथा विभिन्न जातियों पर अधिशासन के लिए, राज्य शक्ति का भू-क्षेत्र से बाहर विस्तार ही साम्राज्यवाद है।"[20]

साम्राज्यवाद क्या नही है इसका वर्णन करने के पश्चात मारगेन्थो साम्राज्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखते है, "आर्थिक लाभों भू-क्षेत्र अधिग्रहण तथा विभिन्न जातियों पर अधिशासन के लिए, राज्य शक्ति का भू क्षेत्र से बाहर विस्तार ही साम्राज्यवाद है। (Imperialism is

---

[18] Ibid.

[19] समीर अमीन, *Toris experiences africanes de developments* 1965 Chapter I

[20] U.R. Ghai अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त और व्यवहार से उद्धृत पृ. 266

the expansion of state power beyond its borders for economic gains. Territorial acquisitions and governance of different races.)

मारगेन्थो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित करने वाले तीन तत्व है:[21]

1- युद्ध के बाद बनी शान्ति सन्धियां जिनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नया शक्ति ढांचा बनाया जाता है, साम्राज्यवाद को जन्म देती है। वर्साय की सन्धि हिटलर और मुसोलिनी की साम्राज्यवादी नीतियों का स्रोत थी।

2- दूसरे स्थान पर कुछ राष्ट्रों के दूसरे राष्ट्रों को स्थायी बतौर अपने अधीन रखने के प्रयत्न भी साम्राज्यवाद को जन्म देते है। शीत-युद्ध कालीन समय दो महाशक्तियों के मध्य साम्राज्य विस्तार का काल माना जा सकता है।

3- अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कमजोर राज्यों का अस्तित्व भी शक्तिशाली राष्ट्रों को साम्राज्यवादी नीति अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

यह तीनों तत्व ऐसी परिस्थितियां पैदा करते हैं जो साम्राज्यवादी नीतियों को बनाने तथा उन्हें लागू करने के पक्ष में होती है।

[21] वही पृ. 266

लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद का सिद्धान्त

मार्क्सवादी साम्राज्यवादी आवधारणा के अग्रणण्य सिद्धान्तकारों में लेनिन के विचार महत्वपूर्ण हैं। लेनिन के साम्राज्यवाद–विषयक सिद्धान्त पर विचार करने से पहले तीन आरम्भिक बातें समझ लेनी चाहिए। पहली बात तो यह है कि लेनिन का "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का चरम रूप" शीर्षक जो उन्होंने वे 1916 में ज्यूरिख (Zurich) में अपने निर्वासन के दौरान लिखा था, स्वयं उन्हीं के शब्दों में साम्राज्यवाद के आर्थिक सार के बारे में है। उन्होंने एकाधिकार पूँजीवाद को साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार के रूप में ग्रहण किया।[22] यह सिद्धान्त साम्राज्यवाद से जुड़े हुए राजनीतिक तथा अन्य कारकों के महत्व को नजरअन्दाज नही करता है।

दूसरे इस निबन्ध में लेनिन का सरोकार विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच बढती हुई स्पर्धा के मूल आधार का पता लगाना था जो उन्नीसवीं शताब्दी में काफी जड़ें जम चुका था और जिसके परिणामस्वरूप अन्ततः प्रथम विश्व युद्ध हुआ। इस लिये कुछ अन्य पहलुओं जैसे साम्राज्यवाद के विकास, साम्राज्यवादी गतिविधियों के केन्द्र लन्दन तथा उसके उपनिवेशों के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उपनिवेशवाद के प्रभाव आदि के बारे में इस निबन्ध में खुलकर विचार किया गया। तीसरे 1920 के संस्करण में प्रकाशित आमुख में लेनिन ने स्वयं कहा था, 'इस निबंध में 20वीं शताब्दी के

[22] V. Lenin : **Imperialism - The Highest Stage of Capitalism** डेविड मैक्लेलन (David Mc Lellan) की पुस्तक से उद्धृत पृ. 95

आरम्भ में विश्व पूँजीवाद के संश्लिष्ट चित्र को अपने अर्न्राष्ट्रीय सम्बन्धों के साथ प्रस्तुत किया गया है और 20वीं सदी के पूँजीवादी विकास को समझने के लिए यह बहुत जरूरी है कि पहले इस संश्लिष्ट चित्र को समझ लिया जाय। फिर भी द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली में जो आधारभूत प्रवृत्तियां विकसित हुई उनके सन्दर्भ में यह जरूरी हो जाता है कि लेनिन के निरूपण को कुछ आगे बढ़ाया जाय। किन्तु जब तक एकाधिकार पूँजीवाद कायम है तब तक लेनिन का सिद्धान्त साम्राज्यवाद की एक उपयोगी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिस्पर्धा के क्रम में छोटे पूँजीपति पीछे छूटते जाते है और बड़े पूँजीपति जिन्हें अधिक पूँजी सुलभ है, आगे बढ़ते जाते है। एक ही प्रतिष्ठान के लोग उद्योगों के मालिक होने के साथ-साथ बैंकों के मालिक बन जाते हैं, क्योंकि औद्योगिक निवेश के लिए वित्त की जरूरत पड़ती है और उद्योगों से प्राप्त अधिशेष भी बैंकिंग पूँजी का अंग बन जाता है। यह प्रक्रिया और अधिक उत्पादन क्षमता को जन्म देती है। इसके लिए बड़े पूँजीपति कच्चा माल प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी सरहदों से बाहर जाते हैं।

लेनिन ने भारत पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उदाहरण दिया। यह भारत की आर्थिक सम्पदा थी जिसका ब्रिटिश निवासी शोषण करना चाहते थे। वे व्यापारियों की तरह आये परन्तु शासक बन बैठे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत के साधनों तथा भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण का लक्ष्य अपनाया। ब्रिटिश शासकों ने भारत को ऐसी मण्डी बनाया

जहाँ से कच्चा माल प्राप्त किया जाता और बना हुआ माल बेचा जा सकता है।[23]

व्यापक पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने पर वे पाते हैं कि उस माल की बिक्री के लिए देशीय बाजार छोटा पडता है इसलिए वे अपने माल की खपत के लिये उपनिवेशों की ओर उन्मुख होते हैं। कालान्तर में ऐसा चरण आता है जब उपनिवेशों में पूँजी का निर्यात अधिक लाभप्रद होता है क्योंकि वहां मजदूरी सस्ती होती है और कच्चे माल के स्रोत भी अपेक्षाकत नजदीक होते हैं। आर्थिक गतिविधि की इस प्रणाली को कायम रखने के लिए मूल देश (Metropolitan State) का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन भी प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया को तर्कसंगत तथा वैध रूप देने के लिये कई तरह की सांस्कृतिक तथा शैक्षिक नीतियों को प्रोत्साहन दिया जाता है जिससे साम्राज्यवाद के लिए स्थानीय समर्थन प्राप्त किया जा सके। एकाधिकार पूँजीवाद अपने देश से उपनिवेशों की तरफ इसी तरह आगे बढता है। लेनिन इसी को **'साम्राज्यवाद'** का नाम देता है।

लेनिन ने साम्राज्यवाद के पाँच बुनियादी लक्षणों को पहचाना जो उसके निबन्ध के सातवें खण्ड में इस प्रकार हैं।-

1- उप्तादन तथा पूँजी का संकेन्द्रण इतने उच्च्व स्तर तक पहूँच गया है कि इसने विभिन्न क्षेत्रों मे तरह-तरह के एकाधिकारों को तन्म दिया है जिनकी आर्थिक जीवन में निर्णायक भूमिका रहती है।

2- औद्योगिक पूँजी के साथ बैंकिंग पूँजी का विलय और इससे वित्तीय पूँजी के आधार पर एक वित्तीय अल्प-तन्त्र (Financial Oligarchy) का सृजन।

---

[23] यु. आर घई अन्तराष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार पृ. 276

3- वस्तुओ के निर्यात के मुकाबले में पूँजी के निर्यात का महत्व बहुत ज्यादा बढ़ जाता है।

4- अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार पूँजी संघों का निर्माण, जो पूरे विश्व को बाँट लेते हैं।

5- बड़ी-बड़ी पूँजीवादी शक्तियों के बीच पूरी दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन पूरा हो जाता है।[24]

कुल मिलाकर लेनिन का यह मानना है कि साम्राज्यवाद पूँजीवादी विकास का वह चरण है जब एकाधिकार एवं वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है; जिस में पूँजी के निर्यात को सुनिश्चित महत्व मिल जाता है; जिस में पूरी दुनिया को अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों में बाँटने की प्रक्रिया शुरू होजाती है; जिसमें प्रमुख पूँजीवादी शक्तियों के बीच सम्पूर्ण विश्व के विभाजन का चक्र पूरा हो जाता है।[25]

लेनिन ने मार्क्स की अवधारण को आगे बढ़ाया और कहा कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजी के संचयन का स्वरूप ऐसा होता है कि इसमें पूँजी कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में केन्द्रित होने लगती है। अपनी इस धारणा को और अधिक विकसित करने के क्रम में लेनिन ने ब्रिटेन, जर्मनी तथा अन्य पश्चिमी देशों में औद्योगिक विकास का अध्ययन किया और अपने सिद्धान्त के हर पहलू के समर्थन में सांख्यकी प्रमाण भी प्राप्त किये। इन सभी देशों में औद्योगिक संवृद्धि का परिणाम यह हुआ कि उत्पादन कुछ गिने चुने व्यापारिक घरानों के हाथों में संकेन्द्रित होता चला गया। उत्पादन संघों (Cartels) का उदय

---

[24] V. Lenin Imperialism. The Highest stage of capitalism डेविड मैक्लेलन (Davod Mclellan) की पुस्तक के उद्धत पृ. ६६

[25] मनोरंजन मोहंती, *साम्राज्यवाद का सिद्धांत,* सत्या रॉय (सम्पा०) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद से उद्धृत पृ० ८

इस संकेन्द्रण की प्रक्रिया का एक रूप था। जब एकाधिकार बढ़ गया और छोटे व्यापारियों में, कारोबार बन्द करदेने से स्पर्धा कम हो गयी तो उत्पादन का और अधिक समाजीकरण हुआ। प्रौद्योगीकी के समावेश से उत्पादन एक सामाजिक प्रक्रिया का रूप लेता गया और उसका निजी व्यवसाय वाला रूप लगातार कम होता गया। अब उत्पादन को नियोजित करना था, बाजारों की मांग तथा पूर्ति को मांपना था और नये-नये कौशलों का विकास तथा विस्तार करना था। परन्तु ऐसी स्थिति में जहां उत्पादन का स्वरूप सामाजिक हो गया, वहां विनियोग व्यक्तिगत अथवा निजी स्वार्थों से ही प्रेरित रहा। स्वयं लेनिन के ही शब्दों में-

> "उत्पादन के सामाजिक साधन कुछ गिने चुने लोगों की निजी सम्पत्ति ही रहे। औपचारिक तौर पर मुक्त प्रतिस्पर्धा का सामान्य ढांचा ज्यों का त्यों कायम रहता है और शेष जनसंख्या पर कुछ इजारेदारों (Monopolists) का जुआ सैंकडों गुना भारी, बोझिल तथा असहनीय हो जाता है।"

प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद से इस नवीन एकाधिकार पूँजीवाद की दिशा में जो परिवर्तन हुआ उसका संकेत कई प्रवृत्तियों से मिलने लगा था। शेयर बाजार अब शेयरों की कीमत आंकने का उतना महत्वपूर्ण मापदण्ड नही रहा। अब इस भूमिका को एक हद तक बैंकों ने निभाना शुरू कर दिया। प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद के आर्थिक नियमों पर अनिवार्यतः एकाधिकारिक स्थितियों का अंकुश था। अतः पहले मुद्रा पूँजी तथा औद्योगिक या उत्पादक पूँजी के बीच जो अलगाव की स्थिति थी उसमें परिवर्तन आना शुरू हो गया। उद्यमी को अब उत्पादन शुरू करने के लिए मुद्रा उधार लेने को साहूकार के पास जाना नही पड़ता

था क्योंकि अब तो वह स्वयं ही एकाधिकारी था। इस प्रकार पूंजीवाद के अन्तर्गत बैंकिंग तथा औद्योगिक पूंजी दोनों मिलकर एक हो गये।[26]

पहले पूँजीपति मुख्यत वस्तुओं के निर्यात में व्यस्त थे, किन्तु इस नये चरण में एकाधिकारी पूँजी के निर्यात में दिलचस्पी रखते थे। अतिशय प्राप्त लाभ के अधिशेष के इस्तेमाल का और तरीका ही क्या था? इसमें शक नहीं कि कुछ और संभावनाएं भी थीं। वे स्वयं अपनी अर्थ-व्यवस्था के पिछड़े हुए क्षेत्रों, जैसे कृषि क्षेत्र में विकास ला सकते थे किन्तु पूँजीवाद यह सब कुछ करता तो वह पूँजीवाद ही न रहता।

साम्राज्यवादी देश की बैंकशाखाओं के जरिये वित्तीय पूँजी उपनिवेशों को हस्तान्तरित कर दी गयी। जब देशीय लोगों ने इन बैंकों से ऋण लिया तो यह ऋण इस शर्त पर दिया गया कि वे मशीनें अथवा कल-पुर्जे ऋणदाता देश से ही खरीदें। उपनिवेशों से प्राप्त मुनाफा भी इन बैंकों के जरिये से जाता था। इस प्रकार इस काल में औद्योगिक तथा वित्तीय प्रक्रियायें बहुत स्पष्ट रूप से एक ही बिन्दु पर मिल रही थीं।

इस मुकाम पर इजारेदारों में परस्पर समझौता हुआ और उन्होंने अपनी गतिविधियों के लिए देशीय बाजार ही को नही वरन अन्तर्राष्ट्रीय बाजार को भी आपस में बाँट लिया। इस स्थिति पर काबू पाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार संघों, अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघों या सिंडीकेटों (जो आधुनिक बहुराष्ट्रीय निगमों के पूर्वगामी हैं) का उदय हुआ।

आपसी समझौतों के बावजूद विभिन्न इजारेदारों ने अपने प्रभाव-क्षेत्रों को सुरक्षित तथा सुदृढ़ करने की आवश्यक्ता महसूस की, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने-अपने देशों को इस

---

[26] इरफान हबीब , **Capitalism in History**, पृ 19

बात के लिए प्रेरित किया कि वे जहॉ भी सम्भव हो वहाँ अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करें। इस प्रकार 1880 से लेकर 1914 तक का काल एक ऐसा युग था जब पूरे भूमण्डल के विभिन्न क्षेत्रों पर कब्जा जमाने के लिये महाशक्तियों के बीच संघर्ष चला। अफ्रीका में यह संघर्ष काफी तीव्र रही जबकि एशिया में बॅटवारे की इस प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप दिया गया।

इस प्रकार लेनिन ने अपने समय की अन्तःसाम्राज्यवादी (Inter - Imperialists) प्रतिस्पर्धा पर विचार करते हुए साम्राज्यवाद के आर्थिक सार को उपरोक्त ढंग से स्पष्ट किया। अपनी स्थापना को आगे बढ़ाते समय लेनिन का कॉटसकी के साथ कुछ मुददों पर विवाद होगया। कॉटसकी द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ 1889 (Second International) के अग्रणी सिद्धांतकार थे। कॉटसकी ने साम्राज्यवाद की व्याख्या करते हुए कहा था कि यह अतिशय विकसित पूँजीवाद की देन है।[27] उनके अनुसार हर औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्र की यह कोशिश रही है कि बड़े से बड़े कृषि क्षेत्रों को अपने कब्जे में कर लें चाहे इन क्षेत्रों में किसी भी कौम के लोग क्यों न हों।[28] लेनिन ने कॉट्सकी की स्थापनाओं को एकदम अमान्य करार तो नहीं दिया किन्तु उनकी स्थापनाओं की मूलभूत कमजोरियों का उदघाटन करते हुए यह कहा कि यह साम्राज्यवाद के मूल तत्व को व्यक्त नहीं करता। पूँजी के स्वरूप तथा अन्त साम्राज्यवादी अन्तर्विरोधों की व्याख्या को लेकर भी लेनिन तथा कॉट्सकी के विचारों में मतभेद था। लेनिन ने कॉट्स्की के इस विचार की भी आलोचना की कि साम्राज्यवादी प्रायः विश्व के कृषि क्षेत्रों पर

---

[27] सत्या रॉय, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ० 10
[28] वही

कब्जा करने की कोशिश करते हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने बेल्जियम का उदाहरण दिया जो उन दिनों जर्मन साम्राज्य का लक्ष्य था।

कॉट्स्की की स्थापनाओं का खण्डन करते हुए लेनिन ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया कि इस विषय पर स्वयं उनके चिंतन पर ब्रिटेन के सामाजिक उदारवादी विचारक हाब्सन का प्रभाव है। जे०ए० हाब्सन पहले सिद्धान्तकार थे जिन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कृति साम्राज्यवाद एक अध्ययन **(Imperialism : A Study, 1902)** में पूँजीपति वर्ग के आर्थिक हितों को "साम्राज्यवादी इंजन के नियामक" (the governor of Imperial engine) के रूप में पहचाना। इस तत्व को उन्होंने साम्राज्यवाद के बारे में अब तक दी जाने वाली तरह-तरह की दलीलों, जैसे- राष्ट्र प्रेम, साहसिकता, सभ्य बनाने का मिशन आदि से ऊपर रखा। हाब्सन ने पूँजीवाद में साम्राज्यवाद के आर्थिक मूलाधार को खोज निकाला और साम्राज्यवाद की वजह से राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों के साथ-साथ जातीय सम्बन्धों में आने वाले व्यापक परिवर्तनों की व्याख्या प्रस्तुत की। लेनिन ने पूँजी के निर्यात से सम्बन्धित हाब्सन के मूल तत्व को ग्रहण कर लिया और उसके आधार पर अपने पूरे सिद्धांत का निर्माण किया।

जहाँ हाब्सन तथा लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का परिणाम माना था वहाँ जर्मन अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने साम्राज्यवाद की व्याख्या इस रूप में की कि यह देश की नीति के गलत दिशा में जाने का परिणाम है। जोसेफ ए० शुम्पीटर ने 1919 में साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार **(Sociology of Imperialism)** विषय पर कुछ

निबन्ध लिखे थे जिसमें शुम्पीटर ने साम्राज्यवाद को पूर्व-पूँजीवादी युग का अवशेष कहा। इसकी उत्पत्ति की जड़ में तीन कारक थे।

1– मानव जाति का युद्ध एवं विजय के प्रति सहज झुकाव;

2– युद्धों तथा युद्धों को जन्म देने वाले साहसिक क्रिया-कलापों के समाप्त होजाने से काफी समय बाद तक इन मनोवृत्तियों का जारी रहना;

3– इन प्रवृत्तियों को कायम रखने में शासक वर्गों के निजी स्वार्थ।[29]

लेनिन के विपरीत शुम्पीटर का विचार था कि साम्राज्यवाद को पूँजवाद पर पर पैबन्द की तरह चिपका दिया गया है अर्थात वह पूँजीवाद का स्वाभाविक विकास नही है। उन्होंने प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया कि पूँजीवाद किस प्रकार हमेशा प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है और मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिये यह शान्ति का वातावरण स्थापित करना चाहता है। इसके विरूद्ध लेनिन का सिद्धांत साम्राज्यवाद को समझने में अधिक पैनी अन्तदृष्टि प्रदान करता है। किन्तु साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन के सिद्धान्त को अधिक अच्छे तौर पर समझने के लिए यह बहुत जरूरी है कि इसके आर्थिक तत्व को ही नहीं वरन इसके अनेक गैर आर्थिक पहलुओं पर भी गौर किया जाये। इनमें ''औपनिवेशिक प्रभुत्व के पुराने प्रयोजनों'' के अतिरिक्त ''पूर्ण प्रभुत्व'' तथा ''साम्राज्यवाद की गहराई तक जाने वाली जड़ें'' शामिल हैं।

पहले आक्रमणकारियों के विपरीत साम्राज्यवाद की एक औपनिवेशिक नीति थी जिसका उद्देश्य एकाधिकार व्यापार को बढ़ावा देना था। इसके पास प्रभुत्व तथा उस प्रभुत्व को वैधता प्रदान करने के

[29] वही पृ 29

आधुनिक उपकरण थे। जो उपनिवेश प्रत्यक्ष तौर पर साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत थे उनमें एक राज्य-तंत्र की स्थापना की गयी। यह राज्य-तंत्र साम्राज्यवाद के निर्देशन में उपनिवेश के मामलों की देख-रेख करता था। सबसे पहले सेना, पुलिस और नौकरशाही का गठन किया गया जिससे औपनिवेशिक शक्तियों के हर प्रकार के विरोध को दबाया जासके। एशिया और अफ्रीका में इसकी कार्य-पद्धति के सम्पूर्ण विवरण से यह पता चलता है कि यहाँ का राज्य-तंत्र देशीय लोगों के प्रति बड़ा ही शोषणात्मक रवैया अपनाता था। यह तंत्र वासतव में साम्राज्यिक देश (Metropolitan Country) की सरकार के प्रति उत्तरदायी था और प्रायः अपने देश की संसद से वैधता प्राप्त करलेता था। किन्तु शासन के मामलों में औपनिवेशिक जनता की कोई आवाज़ नही थी।

स्थानीय संस्थाओं पर औपनिवेशिक शासन के थोपे जाने से यह संस्थायें नष्ट होगयीं। धीरे-धीरे नौकरशाही, पुलिस, अदालत जैसी औपनिवेशिक संस्थाएं इतनी व्यापक हो गयीं कि स्थानीय लोगों को यह समझाया गया कि वे बहुत जरूरी हैं और उनके बिना उनका काम नही चल सकता। समाज में कई नयी उभरती हुई शक्तियों ने उनमें निहित स्वार्थों को जन्म दिया। अन्त में जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई तब स्वतंत्र लोगों ने यह पाया कि वे उन्हीं औपनिवेशिक संस्थाओं के भार तले दबे हुए हैं। और उन्हें यह पता नही है कि उनके स्थान पर नयी संस्थाओं को कैसे लायें।

आधुनिक साम्राज्यवाद में युरोप की औद्योगिक क्रान्ति का तेज तथा इस जुड़े हुए विज्ञान तथा तर्क के मूल्य इससे महत्वपूर्ण थे। इस लिये साम्राज्यवादी यह चाहते थे कि उनका शासन स्थानीय लोगों को स्वीकार्य हो। उनकी वैधीकरण की नीति हर उदाहरण में अलग- अलग

थी। चीन जैसे अर्द्ध-उपनिवेशों में उन्होने पश्चिमी शिक्षा का प्रसार-प्रचार नहीं किया, जितना अंग्रेजों ने भारत में किया था। भारत में शिक्षा नीति का उद्देश्य केवल पूँजीवादी, उदारवादी मूल्यों के प्रति सराहना का भाव ही उत्पन्न करना नही था, वरन पढ़े लिखे लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन की पूरी निष्ठा के साथ सेवा कर सके।

औपनिवेशिक काल के दौरान कृषि का इतना असंतुलित विकास हुआ कि अकाल तथा भुखमरी जैसी घटनाएं आम बात हो गयीं। खाद्यान्नों को उपनिवेशों के अन्तर्गत शहरों में भेजने तथा कमी वाले उपनिवेशों में उसके निर्यात करने को अधिक प्राथमिक्ता दी गयी। गाँवों में खाद्यान्नों की पूर्ति को उतना महत्व नहीं दिया गया।

सम्राज्यवादी एक उपनिवेश से दूसरे उपनिवेश के बीच व्यापार इसलिए करते थे जिससे स्वदेश में पूँजी का संग्रह किया जा सके। चीन को भारतीय अफीम का निर्यात और अफीम के व्यापार को सुनिश्चित बनाने के लिये चीन के साथ साम्राज्यवादी युद्ध हुए। इसी प्रकार बागान, उत्खनन, विनिर्माण तथा इसी तरह के अन्य उद्देश्यों के लिये श्रमिकों का देश के अन्दर तथा अन्य देशों को प्रवासन तथा स्थानान्तरण (Migration) औपनिवेशिक शोषण की एक पद्धति थी।[30]

इस प्रकार पश्चिम के एकाधिकार पूँजीवाद की जरूरतों को पूरा करने के लिये उपनिवेशों को एक प्रकार के विउद्योगीकरण (De-industrialization) की प्रक्रिया से होकर गुज़रना पड़ा, अतः औपनिवेशिक काल का अन्तिम परिणाम था अल्प-विकास की संरचना। युरोपीय साम्राज्यवाद ने एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों

---

[30] Kenneth N. Waltz, **Theory of International Politics**, University of California, Berkeley, p. 19.

की दो शताब्दियों तक जो लूट जारी रखी उसी का परिधाम है अल्प-विकास। उत्तर-औपनिवेशिक समाज अब इस अल्प-विकास पर विजय पाने के लिये जूझ रहे हैं।

हर घातक अनुभव अपने पीछे ऐसी प्रक्रियायें छोड़ जाता है जिनके कुछ सकारात्मक पहलू होते है। उस अनुभव से हानि उठाने वाले इन्ही सकारात्मक पहलुओं को सामने रखते हैं जिससे वह कुछ नया बना सकें, नव-निर्माण कर सकें। यह ठीक है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय चेतना पर प्रहार किया, इसकी संस्थाओं को तहस-नहस किया, लोगों को पशुओं जैसा बना दिया किन्तु इसने एक अवरूद्ध पूर्व-पूँजीवादी समाज को भंग भी किया। इसी उथल-पुथल से आधुनिकीकरण की अनेक प्रक्रियाओं का जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में अंग्रेजों ने भारत के कुछ क्षेत्रों में एक हद तक उद्योगीकरण को लाना अधिक लाभप्रद समझा। स्वयं अपने व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्होंने जिस यातायात तथा शिक्षा सम्बन्धी बुनियादी संरचना (Infrastructure) का निर्माण किया था उसका उपयोग कुछ अन्य बड़े उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भी किया जा सकता था, जैसे एक अखिल भारतीय संचार प्रणाली का निर्माण या राष्ट्रवादी तथा लोकतांत्रिक विचारों का प्रचार-प्रसार। किन्तु यह औपनिवेशिक युग के आनुषंगिक लाभ थे और साम्राज्यवाद से उपनिवेश के लोगों को जितनी भारी, व्यापक और आधारभूत हानि हुई उसकी तुलना में यह लाभ बहुत कम थे।

साम्राज्यवाद को लेकर समसामयिक युग में जो चर्चा हुई है उसमें मुख्यतः चार बातों को केन्द्र में रखा गया हैः-

1- लेनिन के सिद्धान्त की वैधता,

2- नव-उपनिवेशवाद के लक्षणों का निरूपण

3- सामाजिक साम्राज्यवाद की अवधारणा, और

4- आन्तरिक उपनिवेशवाद। इनकी विवेचना किया जाये तो उत्तर-उपनिवेशवाद के लक्षणों को स्पष्ट रूप से समझाा जासकता है।

जहां लेनिन के अधिकतर बुर्जुआ आलोचकों ने शुम्पीटर की विचारधारा को अपनाया वहां कुछ अन्य ने लेनिन की आंशिक प्रासंगिकता स्वीकार करते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूँजीवाद ने आन्तरिक एवं बाह्य दोनों दृष्टियों से अपने आपको काफी हद तक पुनर्गठित किया है। अपने देशो में इसने और अधिक मात्रा में कल्याणकारी कार्य अपने हाथों में लिये हैं और बड़े योजनाबद्ध तरीके से रोजगार के लिये अवसर प्रदान करने तथा लोगों में गतिशीलता लाने का काम किया है।अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजीवाद द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय व्यवस्थाओं द्वारा विभिन्न राष्ट्रों में स्वैच्छिक समझौतों के माध्यम से कार्यशील है।इस प्रकार पूँजीवाद अपने उस चरण से भी सफलतापूर्वक आगे निकल गया है जिसे लेनिन ने उच्चतम चरण या साम्राज्यवादी चरण कहा था।

इस चरण में कुछ सत्य हो सकता है कि आन्तरिक एवं बाह्य दानों दृष्टियों में पूँजीवाद के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन आये हों किन्तु किसी भी रूप में उनके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आया है। आन्तरिक तौर पर इजारेदारों का प्रभुत्व अब भी उसी तरह कायम है और पूँजी संचयन को अब भी मानदण्ड माना जाता है। बाहरी तौर पर पूँजी निर्यात के पीछे हालांकि कोई सैनिक समर्थन नही है फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली असमान विनिमय का अत्यन्त सक्षम ढाँचा प्रस्तुत करता है जिसमें एक ओर विकसित औद्योगिक देश

हैं जो प्रायः बहु-राष्ट्रीय निगमों के माध्यम से कार्य करते हैं और दूसरी ओर उत्तर-औपनिवेशिक समाज। इसलिये वर्तमान युग में भी लेनिन का सिद्धान्त प्रासंगिक है।

कुछ मार्क्सवादी विचारकों जैसे हैरी मैगडफ ने यह तर्क दिया है कि लेनिन का सिद्धान्त जहां एकाधिकार पूँजीवाद पर सबसे ज्यादा लागू होता है वहां इसके आधार पर पुराने अर्थात औद्योगिक क्रान्ति से पहले के साम्राज्यवाद को समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। न ही वि-उपनिवेशीकरण (decolonisation) तथा नव-उपनिवेशवाद (Neocolonisation) के युग पर इसे यांत्रिक ढंग से लागू करना चाहिये। कुछ विद्वानों ने यह सुझाव भी दिया कि लेनिन का विश्लेषण साम्राज्यिक शक्ति पर अधिक प्रकाश डालता है और उसमें उपनिवेशों के अन्तर्विरोधों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। वास्तव में लेनिन ने अपने निबन्ध के क्षेत्र तथा केन्द्र बिन्दु को इन्हीं शब्दों में प्रकाशित किया हैऔर औपनिवेशिक समस्या से जुड़े हुएअन्य पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है। इसलिए लेनिन की मूल अवधारणा जिसके अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद का चरम रूप है समय की कसौटी पर खरी उतरी है।

नव-उपनिवेशवाद की चर्चा दो विचारधाराओं के ईर्द गिर्द घूमती रही है। कुछ विद्वान यह मानते है कि संसार के विभिन्न भागों में विश्व पूँजीवादी प्रणाली द्वारा शोषण की प्रक्रिया अब भी जारी है। इस प्रणाली का नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका के हाथ है और इसके प्रमुख केन्द्र पश्चिमी युरोप में हैं। उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में इस साम्राज्यवाद के प्रति विभिन्न मात्राओं मे विरोध की भावना मौजूद है। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के कुछ देशों में बुर्जुआ वर्ग के

प्रगतिशील तत्वों ने अपनी स्वतंतत्रा को कायम रखा है किन्तु उनके देशों को इस शाोषण से सुरक्षित माना जासकता है। इस समस्या से उत्पीड़ित राष्ट्रों ने 1970 के दशक से अपने तेवर में पैनापन प्रदर्शित किया। परिणामस्वरूप NIEO, NAM जैसे आन्दोलनों का उदय हुआ। विशेषकर भारत की विदेश नीति इन साम्राज्यवादियों की कुत्सित चालों को सरेआम करने में चूक नही करती। दूसरी विचारधारा यह मानती है कि केन्द्र में कुछ पूँजीवादी राष्ट्र या पूँजीवादी देश हैं जिनकी औद्योगिक शक्ति काफी विकसित है और परिधि (Peripheri) पर तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देश हैं जहाँ पूँजीवादी केन्द्र (Capitalist Core) ने इनका साथ देनेवाला बुर्जुआ या मध्यम वर्ग का पोषण किया।किन्तु इस मध्यम वर्ग को भी अपने देश के अन्दर ही मजदूर वर्गों तथा उभरते हुए राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का विरोध सहना पड़ा है।

वर्तमान विश्व प्रणाली को चाहे विश्व पूँजीवादी प्रणाली बनाम स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखें या उस पूँजीवादी केन्द्र (capitalist core) तथा पूँजीवादी परिधि (capitalist periphery) विचार करें, इसमें सन्देह नही रह जाता कि यह नव-उपनिवेशवाद की तस्वीर है। प्रौद्योगिकी की दृष्टि से उन्नत कुछ देश, जिनके पास भारी मात्रा में पूँजी है, विश्व अर्थव्यवस्था के ढाँचे पर अपनी मजबूत पकड़ रखते हैं और ऐसी युक्तियां अपनाते हैं जिससे वे एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों से कच्चा माल प्राप्त कर सकें और वहां के बाजारों में तैयार माल बेच सकें। यह नव उपनिवेशवाद इस लिए है कि यह विदेशियों द्वारा लोगों के स्व-अधिकार के हनन का एक नया रूप है तथा यह देश की श्रेष्ठता तथा उसके पूँजीगत बल पर आधारित है। इस सम्बन्ध में यह जरूरी है कि पहले लेनिन के सिद्धान्त को फिर से

मान्यता दें जिसने आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व के आधार को स्पष्ट किया किन्तु साथ में विश्लेषण के नये साधन विकसित किये जायें जिससे बहुराष्ट्रीय निगम के स्वरूप को समझा जा सके और यह पता लग सके कि स्वतंत्र राष्ट्रीय शासन प्रणालियों में -जिनमें समाजवादी शासनप्रणालियां भी शामिल हैं- इन्हें स्वेच्छा से क्यों आमंत्रित किया जाता है? यहां यह भी नये सिरे से समझना होगा कि एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों में पूँजीवाद का असमान विकास क्यों हुआ क्योंकि इस समझ के माध्यम से हमें बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ उनके सम्बन्ध को समझने में मदद मिलेगी।

आज एक और समस्या यह है कि समाजवादी साम्यवादी शासन वाले देशों के औपनिवेशिक कदमों की व्याख्या कैसे की जाये। 1968 में चीन के साम्यवादियों ने चेकोस्लोवाकिया में रूस के हस्तक्षेप की निंदा करने के लिए लेनिन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक साम्राज्यवाद विषय पर अपने निबन्ध के नवें खण्ड में 'युरोपीय सामाजिक लोकतंत्रवादियो' (Social Democrats) की भर्त्सना करते हुए कहा था कि " सिद्धान्त में समाजवादी हैं किन्तु व्यवहार में साम्राज्यवादी"। सोवियत संघ के कम्यूनिस्ट पार्टी के विश्व भर के आलोचक सन् 1968 से सोवियत संघ की आलोचना के लिए इसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन के साम्यवादी दल ने यह तर्क दिया कि रूस में पूँजीवाद की वापसी हो गयी है। माओ के बाद चीन में जब नवीन नेतृत्व ने सांस्कृतिक क्रान्ति की अनेक सैद्धान्तिक स्थापनाओं का खण्डन किया तो उन्होंने 1979 के मध्य में सोवियत रूस के सन्दर्भ में इस शब्दावली का व्यवहार करना बन्द कर दिया और सोवियत प्रभुत्ववादी (Soviet Hegemonists) कहकर उनकी ओर संकेत किया।

सामाजिक साम्राज्यवाद की धारणा के बारे में अनेक सैद्धन्तिक पहलू जो स्वयं में उलझे हुए है। जब किसी समाज में उत्पादन के साधनों पर पूरे समाज का स्वामित्व हो और जन-कल्याण के क्षेत्रों में नियमित प्रगति दिखाई दे, तो क्या इसे पूँजीवाद की वापसी कहा जा सकता है? किन्तु दूसरी ओर ऐसे प्रमाण हैं जो यह संकेत करते हैं कि समाजवादी देशों में दिनों दिन नौकरशाही का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और स्वरूप विशिष्ट वर्गीय होता जा रहा है; मजदूरों में परायेपन की भावना और बढ़ी है, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलन अब भी चले आरहे हैं और उपभोक्तावाद (Consumerism) पर आधारित आचरण का देश इन चुनौतियों का सामना कर रहे है।

चीन में भी उपरोक्त समस्यायें उभर रही हैं और कई वामपंथी विचारकों के मत में यहाँ भी पूँजीवाद की वापसी हो रही है। एक ऐसे समय पर जब पूँजीवादी देशों ने बड़ी तत्परता से अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व की नयी नयी युक्तियां खोज निकाली हैं, शोषित जनों और समाजवादी देशों का कोई ऐसा साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा नहीं है जिसकी लेनिन ने कल्पना की थी। दूसरी ओर आज स्वयं समाजवादी देशों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अपने देश के अर्न्तगत अल्पसंख्यक क्षेत्रों के खिलाफ प्रभुत्ववादी नीतियां अपना रहे हैं। अतः सामाजिक साम्राज्यवाद की सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे कोई ठोस घारणा हो या न हो, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व के प्रसार की कोशिश जारी है और यह प्रसार किसी एक तरह की सैद्धान्तिक व आर्थिक प्रणाली से बंधा हुआ नही है।

कार्ल कॉट्स्की (1814-1938)

कार्ल कॉट्स्की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ का जर्मन मार्क्सवादी था। मार्क्स और एंजिल्स के बाद चिरसम्मत मार्क्सवाद के समर्थकों में काट्स्की का नाम आता है।

काट्स्की ने 1915 में साम्राज्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखा था कि " यह अतिशय विकसित औद्योगिक पूँजीवाद की देन है"। उसके अनुसार हर ' औद्योगिक पूँजीवादी राष्ट्र, उत्तरोत्तर बड़े कृषि क्षेत्रों को, चाहे वहां किसी भी जाति (Nation) के लोग क्यों न रहते हों अपने नियंत्रण में करके उन्हें हथियाने की होड़ में लगा हुआ है और यही वह भावना है जिससे साम्राज्यवाद का निर्माण होता है।"[31] उन्नीसवीं सदी में युरोपीय शक्ति का एशिया तथा अफ्रीका के देशों में जो विस्तार हुआ उसी के आधार पर उन्होने कुछ सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये थे।

दूसरे, उन्होंने बताया कि विकसिमत शक्तियों के क्षेत्र में पिछड़े हुए क्षेत्रों के मिला लिये जाने के राजनीतिक तथ्य पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उसकी वजह से विभिन्न राष्ट्रों तथा वहां के लोगों का दमन प्रारम्भ हुआ। इसलिये काट्स्की के प्रतिपादन का तीसरा प्रश्न था "राष्ट्रीय प्रश्न"।

कॉट्स्की के विचारों की लेनिन ने जो मीमांसा प्रस्तुत की उसमें वस्तुतः साम्राज्यवाद की इन विशेषताओं को नकारा नहीं गया। लेनिन

---

[31] ओ पी गाबा, राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा, पृ. 247

ने कॉट्स्की के निरूपण की इस मूलभूत कमजोरी को प्रकट किया कि इसमें साम्राज्यवाद की मूल चेतना को व्यक्त नहीं किया गया है।

इस सन्दर्भ में लेनिन तथा कॉट्स्की के विचारों में मूल अन्तर पूँजी के स्वरूप को लेकर था। लेनिन उद्योग और बैंकिंग पूँजी का जमाव जहां इजारेदारी चरण में बताया था, वहां कॉट्स्की ने औद्योगिक पूँजी के बाह्य विस्तार की चर्चा की थी।

उनमें दूसरा अन्तर अन्तःसाम्राज्यवादी विरोधों के बारे उनकी समझ से सम्बद्ध था। कॉट्स्की का विचार था कि साम्राज्यवादियो में आपस में काफी मेल मिलाप था और इस प्रक्रिया में चरम साम्राज्यवाद (Ultra-Imperialism) या परा-साम्राज्यवाद (Super-Imperialism) का तत्व अस्तित्व में आ चुका था। लेनिन ने बताया कि हालांकि अन्तर्राष्ट्रीय संघों और उत्पादक संघों (Cartels) का आविर्भाव एकाधिकार पूँजीवाद के चरण की प्रमुख विशेषता थी फिर भी साम्राज्यवादियों में आपस में अनबन थी ओर उनके बीच समय समय पर होने वाली मैत्री युद्ध के दौरान होने वाले युद्ध विराम से अधिक नहीं थी।

लेनिन ने कॉट्स्की के इस तर्क की भी आलोचना की कि साम्राज्यवाद प्राय विश्व के कषि क्षेत्रों पर कब्जा करने की कोशिश करते हैं। उन्होंने बताया कि इजारेदारी नियमों के तहत वे औद्योगिक क्षेत्रों सहित किसी भी जगह जाने को तैयार हो जायेंगे और अपनी पूँजी की जरूरतें पूरी करेंगे। बहरहाल चूँकि साम्राज्यवादियों में स्पर्धा की भावना बढ़ती जा रही है, अतः वे आगे चलकर नये क्षेत्रों में कूदने का खतरा मोल लेंगे। लेनिन ने इस सन्दर्भ में बेल्जियम का उदाहरण दिया जो उन दोनों जर्मन साम्राज्यवाद का लक्ष्य था।

जहाँ लेनिन की धारणा युक्तिसंगत थी कि कृषि प्रधान तथा साथ ही अन्य समाज बढ़ते हुए एकाधिकार के हाथों शोषण का शिकार हो सकते थे, वहां कॉट्स्की द्वारा इस तथ्य का उल्लेख सर्वथा उचित था कि कृषि समाज सहज ही साम्राज्यवादी विस्तार का शिकार हो जाते हैं। एशिया तथा अफ्रीका में प्राक्-पूँजीवादी कृषि ने साम्राज्यवाद के लिये आकर्षक स्थितियां प्रदान कीं और फौरन ही साम्राज्यवाद सामंतवाद के साथ तरह तरह के समझौते तथा संघर्ष के सम्बन्ध के रूप में प्रकट हुआ।

राष्ट्रों के प्रश्न पर कॉट्स्की ने पूरी समस्या को सरलीकृत करके साम्राज्यवादी देश द्वारा विभिन्न राष्ट्रों को अपने राज्य में मिला लेने की समस्या भर बना दिया था और उसके मूल में नीहित एकाधिकार पूँजीवाद की अनिवार्यताओं से उसका क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बताया था। इसलिये यह निरूपण सतही था इसमें साम्राज्यवाद को विकृत रूप में (पूँजीवादी शक्तियों की एक नीति के रूप में) पेश किया गया था जबकि यथार्थ में उसका क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक था। यह तो वस्तुतः एक दुर्निवार शक्ति थी, जो पूँजीवाद के इजारेदारी चरण से उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार लेनिन ने कॉट्स्की के सिद्धान्त की अपूर्णता की ओर संकेत किया और राष्ट्रीय प्रश्न को साम्राज्यवाद की राजनीतिक अर्थव्यवस्था के अधिक परिप्रेक्ष्य में रखा।

अन्तः साम्राज्यिक प्रतिस्पर्धा समय-समय पर तरह-तरह के रूपों में व्यक्त हुई है। पहले के कृषि प्रधान और अब एक हद तक उद्योगीकरण से प्रभावित समाज पुनः नव-उपनिवेशिक घुसपैठ के लिये असुरक्षित हो उठे हैं। अभी हाल में अनेक लोगों ने राष्ट्रीय समस्या

की स्वतंत्रता का दावा किया है, अतः कॉट्स्की के तर्क की कुछ प्रासंगिकता हो सकती है।

हाब्सन का सिद्धान्त

जान एटकिंसन हाब्सन पहले सिद्धान्तकार थे जिन्हों ने 1902 में प्रकाशित अपनी पुस्तक (Imperialism : a Study) (साम्राज्यसवाद-एक अध्ययन)में पूँजीपति वर्ग के वित्तीय हितों को, साम्राज्यवादी इन्जन के नियंत्रक की संज्ञा दी। साम्राज्यवाद के बारे में अब तक देश प्रेम, साहसिकता, सभ्य बनाने के मिशन जैसी शब्दावली में तरह-तरह के लम्बे-चौड़े दावे किये जाते थे, किन्तु हाब्सन ने वित्तीय तत्व को सबसे ऊपर रखा विदेशों में साम्राज्यवादी विस्तार का एक प्रमुख कारण था देशी विनिर्माण में पूँजी का अवरूद्ध हो जाना। घरेलू बाजार सीमित था। क्योंकि काफी बड़ी संख्या में लोग निम्न आय वर्गों के थे। इसलिए वह सामान की बढ़ी हुई आपूर्ति को खपत नहीं कर सकते थे। बडी फर्में जोखिम उठाने तथा निरर्थक अति-उत्पादन को बचाती थीं। इन दोनों कारकों- आय के कुवितरण तथा इजारेदारी आचरण- का परिणाम यह हुआ कि अपने देश की सीमाओं के बाहर निवेश के नये अवसरों तथा नये बाजारों की तलाश की जाने लगी।[32]

इस प्रकार हाब्सन ने एक ऐसे तत्व का पता लगाया जिसे उसने साम्राज्यवाद के आर्थिक जड़ की संज्ञा दी। साथ ही उन्होंने राजनीतिक, सांस्कतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में (जिसमें जाति सम्बन्ध भी शामिल

[32] J.A. Hobson, **Imperialism : A Study** (London, Allen and Unwin, 1938), p.

हैं) साम्राज्यवाद द्वारा लाये गये परिवर्तनों की एक पूरी श्रृंखला की भी अध्ययन की।

लेनिन ने पूँजी के निर्यात के बारे में हाब्सन के मूल तर्क को स्वीकार कर लिया। और उसके आधार पर अपने पूरे सिद्धान्त का निर्माण कर डाला। तीन ऐसे क्षेत्र हैं जिसमें लेनिन ने हाब्सन के सिद्धान्त को आगे बढाया। सबसे पहली बात तो यह है कि हाब्सन के अनुसार पूँजीवाद साम्राज्यवाद का अन्तिम चरण नहीं है और इसकी उपेक्षा भी सम्भव है। उसका विचार था कि सामाजिक सुधारों के द्वारा देश में आय के कुवितरण को ठीक किया जासकता है और देश के अन्दर ही पूँजी के संचालन के और अधिक अच्छे तरीके खोजे जा सकते हैं। कानूनी कदम उठाकर प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवाद के कुछ हालातों को सुधारा जा सकता था। उदारवादी मान्यता के विपरीत लेनिन ने यह तर्क दिया कि प्रतिस्पर्धात्मक से एकाधिकार पूँजीवाद की दिशा में पुनः परिवर्तन लाना सम्भव नहीं था और पूँजीवादी विकास का इस चरण की ओर जाना एक अनिवार्यता थी। संरचनात्मक सुधारों के द्वारा पूँजीवाद को इजारेदारी और इसलिए साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की ओर जाने से रोकना आसान काम नहीं था। इस सबसे लेनिन का आशय यह था कि साम्राज्यवाद को केवल साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति के द्वारा ही रोका जा सकता है।[33]

उनमें दूसरा प्रमुख अन्तर पूँजी के निर्यात के स्वरूप को लेकर था। जहां हाब्सन की यह धारणा थी कि देश के अन्दर पूँजी का अतिरेक उसे बाह्य प्रवाह की दिशा में ले जा रहा है वहां लेनिन ने विदेश में कच्चा माल तथा बाजार खोजने और उस पर पूर्ण नियंत्रण

---

[33] J.M. Keynes, '**The General Theory of Employment, Interest and Money,** (New York: Hercourt, Brace and World, 1936), p. 250

लागू करने के लिये पूँजी की अनिवार्य आवश्यक्ता की ओर इशारा किया।

लेनिन के प्रतिपादन में तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसने पूँजी के कुछ ऐसे नवीन घटकों का विशलेषण किया जिनका विशलेषण हाब्सन ने नहीं किया था। औद्योगिक पूँजी के साथ वित्तीय पूँजी का मेल, दोनों का एक दूसरे को प्रोत्साहन करना, इनका देश के अन्दर तथा बाहर दोनों जगह गतिशील होना और अपनी स्मृध्धि के लिये औपनिवेशिक शासन के सभी पहलुओं को अपने अनुकूल ढाल लेना-यह पूँजीवाद की नवीन विशेषता थी जिसका लेनिन ने पता लगाया था।

शुम्पीटर के विचार

शुम्पीटर ने यह स्पष्ट किया कि आरम्भिक युगों में युद्ध एवं विजय आम घटनाऐं थीं। कभी तो इनके पीछे तर्कसंगत आधार होते थे, किन्तु प्राय ऐसा नहीं होता था। चूँकि मनुष्य में आत्म-सुरक्षा की सहज प्रवृत्ति थी और वे अपने आपको योद्धा समझते थे, अतः उनमें युद्ध तथा विजय की प्रवृत्ति विकसित हुई।युद्ध एवं विजय के विशिष्ट कारण न रहने पर भी यह मनोवृत्ति जारी रहती। 'आगे चलकर इन आक्रामक नीतियों तथा संरचनाओं को उस समय और भी ज्यादा बल मिला जब शासक वर्ग ने इनकी जरूरत महसूस की। शुम्पीटर ने संकेत किया कि जो वर्ग एवं व्यक्ति युद्ध एवं औपनिवेशिक कार्यवाहियों से सबसे ज्यादा लाभान्वित होते हैं उनके साम्राज्यवाद को कायम रखने में, नीहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं। परन्तु उन्होंने इस बात पर बल दिया कि औद्योगिक

पद्धति शान्ति के हालातों में मुक्त स्पर्धा को सुरक्षा प्रदान करने की कोशिश करती है; इसलिए पूँजीवाद स्वभावत साम्राज्यवाद विरोधी होता है।" उन्होंने कहा लाभ वस्तुत विभिन्न राष्ट्रों में श्रम विभाजन के विस्तार में निहित है, निर्यात उद्योग के लाभ एवं मजदूरी में नही।"

एकाधिकार पूँजीवाद को परिभाषित करते हुए उसने बताया कि राज्य द्वारा भारी टैरिफ लगाया जाना इजारेदारी प्रवृत्ति के मूल में है और राज्य शासक वर्गों के प्रभाव के अन्तर्गत कार्य करता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद ऐसे राज्य की नीति थी जो प्राचीन काल के निरंकुशतापूर्वक रिक्थ (Legacy) को आगे बढाता है। और जो सामंती हितों द्वारा निर्मित पुराने युद्ध–तंत्र को जारी रखे हुए है।

शुम्पीटर ने पूँजीवादी देशों में शान्ति आन्दोलन के बारे में चर्चा की किन्तु ये आन्दोलन युद्ध रोकने में सफल नही हुये। उल्टे युद्ध के दौरान युद्ध के अस्त्रों में अभूतपूर्व वृद्धि की प्रवृत्ति देखने में आयी और हर युद्ध के बाद यह युद्धास्त्र और भी परिष्कृत होते गये। शान्ति समझौते प्राय नीति के एक कदम के रूप में कराये जाते थे। और संधियां सैन्य संतुलन के आधार पर विनिर्दिष्ट की जाती थीं। संयुक्त राज्य अमरीका ने शुम्पीटर की आशा के विपरीत पिछले 100 सौ वर्षों में साम्राज्यवादी गतिविधियों के अनेक रास्ते विकसित कर लिये हैं। इसके अतिरिक्त यह विश्वास कि युद्ध के बजाये शान्ति के हालातों में पूँजी की वृद्धि होती है, वस्तुतः एक सद्भावना ही अधिक है, ऐतिहासिक तथ्य नही। उन्नीसवीं शताब्दी में साम्राज्यवादी देशों के अन्तर्गत जो युद्ध हुए और प्रतिरोध करने वाले उपनिवेशों पर उन्होंने जिस पाशविक ढंग से धावा बोला वे इस धारणा को गलत सिद्ध करने के लिये काफी होंगे। बीसवीं सदी के दोनों महायुद्ध तथा विभिन्न क्षेत्रीय

युद्ध इस तथ्य के समर्थन में पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि इजारेदारी पूँजी जहां भी सम्भव हो और जो भी साधन उपलब्ध हों उनसे अपना नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश करती है।[35]

II

निर्भरता सिद्धान्तः केन्द्र-परिधि मॉडल
(Dependency Theory : Centre Periphery Model)

वर्तमान समय में राष्ट्रीय राज्यों के मध्यअसमान सम्बन्धों के आधार पर निर्भरता सिद्धान्त राजनीति का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। वह तीसरी दुनिया के सम्बन्ध राजनीति का विश्लेषण करने वाले संरचनात्मक, कार्यात्मक सिद्धान्त तथा पारस्परिक मॉक्सवादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। निर्भरता सिद्धान्त की उत्पत्ति मॉक्सवादी तथा पश्चिमी विद्वानों द्वारा उचित तथा समर्थित आधुनिकीकरण तथा विकास सिद्धान्तों के विकल्प के रूप में हुई। अतः स्वाभाविक रूप में यह सिद्धान्त मार्क्सवादी तथा पश्चिमी सिद्धान्तों की आलोचना करता है, न ही उन्हें रद्द करता है। खास करके निर्भरता सिद्धान्त विकास का निरन्तरता सिद्धान्त (Continuum Theory) तथा प्रसारण सिद्धान्त (Diffusion theory) जो कम-विकास (Underdevelopment) को विकास का निम्न-स्तर अर्थात अस्थायी तथा बदलने वाला स्तर (Transitory stage) मानते हैं; जिन्हें विकसित देशों का समर्थन प्राप्त है, तथा जो विकसित राज्यों द्वारा

[35] सत्या राय , भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृष्ट 343

अत्यन्त निम्न रूप से विकसित राज्यों को दी जाने वाली विदेशी सहायता तथा निवेश की सकारात्मक तथा महत्वपूर्ण भूमिका को सराहते है; को स्वीकार करने से इन्कार करता है।

निर्भरता सिद्धान्त युरो-केन्द्रीय झुकाव तथा साम्राज्यवाद एवं आधुनिकीकरण के सीमित स्वभाव को रद्‌द करने के साथ-साथ तीसरे विश्व के राज्यों में विद्यमान निम्न स्तर के विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करके राजनीति के अध्ययन के लिए एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

निर्भरता सिद्धान्त का आरम्भ एक देश की सामाजिक आर्थिक राजनीतिक संरचनाओं पर उपनिवेश प्रभाव के अध्ययन से होता है। फिर यह नयी सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं का विश्लेषण करता है। अन्तिम स्तर पर यह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में इनके विकास का अध्ययन आन्तरिक परिवर्तनों तथा घटनाओं के सन्दर्भ में करता है। इस तरह यह इतिहास की पूर्ण व्याख्या करता है।[36]

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि निर्भरता सिद्धान्त निम्न स्तर के विकसित देशों के आन्तरिक परिवर्तनों का विश्लेषण करता है तथा उनके निम्न-स्तरीय विकास की उनकी विश्व आर्थिक व्यवस्था में स्थिति के सन्दर्भ में व्याख्या करता है। यह आन्तरिक तथा बाह्य संरचनाओं के सम्बन्धों की व्याख्या करता है। निर्भरता सिद्धान्तवादी तीसरी दुनिया के देशों, विश्व के गरीब तथा आर्थिक रूप से निर्भर देशों के निम्न-स्तरीय विकास की स्थिति की व्याख्या उस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में करते हैं जो कि इन देशों को विकसित देशों के साथ जोड़ती है। यह निम्न-स्तर के

[36] यु आर घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त एवं व्यवहार पृ. 118–119

विकसित देशों को परिधियां (Peripheries) तथा विकसित देशों को केन्द्र (Centres) कहते हैं। वह यह मानते हैं कि परिधि में सामाजिक प्रक्रिया के स्वरूप का विश्लेषण विश्व पूँजीवादी व्यवस्था, जिस पर विकसित देशों/केन्द्रों का प्रभुत्व है, के विश्लेषण के आधार पर ही किया जाता है। निर्भरता सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि तीसरे विश्व के राज्यों की सामाजिक प्रक्रियाओं की प्रकति का निर्धारण निम्न-स्तरीय विकास की प्रक्रिया जो विश्व स्तर पर पूँजीवादी विस्तार का परिणाम है, द्वारा होता है।

निम्न-स्तरीय विकास की प्रक्रिया इन देशों की बाहरी निर्भरता के साथ अभिन्न तथा प्रगाढ़ रूप से सम्बन्धित होती है। वास्तव में सभी निर्भरता सिद्धान्तकार साधारण रूप से यह स्वीकार करते हैं कि निम्न स्तरीय विकास सदैव बाहरी निर्भरता से पैदा होता है। विकसित देशों के विकास का स्तर तथा निम्न स्तर के विकसित देशों के विकास का स्तर दो असम्बन्धित प्रक्रियाएं नहीं है बल्कि ये दोनों पूँजीवादी विस्तार के कारण उत्पन्न परस्पर सम्बन्धित उपजें अथवा परिणाम हैं।

निर्भरता सिद्धान्त एक वृहद् ऐतिहासिक एवं संरचानात्मक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है तथा यह विकास तथा निम्न-स्तरीय विकास की निरन्तरता एवं मार्क्सवादी सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है।" (The depeney theory presents a macro-historical and structural pespective and involves a rejection of the continuum and Marxist explanations of development and underdevelopment) यह निम्न स्तरीय विकास को पूँजीवादी विस्तार की उपज के रूप में परिभाषित करता है क्योंकि यह मानता है कि पूँजीवादी विस्तार से असमान विनियमय (Unequal exchange) उत्पन्न

होता है तथा जिसमें केन्द्र (Centres or cores or metropolis) अपने लाभ हेतु परिधियों के स्रोतों तथा श्रम का शोषण करता है। परिधि निर्भरता की स्थिति में जीवित रहती है तथा निम्नस्तरीय विकास इसको विशेषता बना रहता है।

निर्भरता से अभिप्राय है, जैसा कि डास सांतोस (Dos Santos) कहता है, ऐसी स्थिति जिसमें कुछ देशों की अर्थ व्यवस्था उन देशों की अर्थव्यवस्था के विकास तथा विस्तार द्वारा संचालित होती हैं जिन पर ऐसे देश निर्भर करते है अथवा जिनके प्रभाव में होते हैं। दो या दो से अधिक देशों की अन्तर्निरभरता तथा इनकी विश्व व्यापार की अन्तर्निर्भरता के साथ सम्बन्ध उस समय निर्भरता का स्वरूप ले लेते हैं जब कुछ देश जो प्रभुत्व रखते है स्वयं विस्तार कर सकते है तथा स्वयं विस्तार की ओर बढ़ सकते हैं जबकि दूसरे देश जो निर्भर होते है ऐसा नहीं कर सकते। वे निर्भर देश विकसित देशों की परिधि में ही रहते हैं तथा विकास होता है वह उनके विकास पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।"

("Dependcy is a situation in which the economy of certain countries is conditioned by the development and expansion of another economy to which the former is subject to. The relation of interdependence between two or more economies. And between these and more trade, assumes the forms of dependence when more countries (the dominant ones) can expand and can be self starting while the other countries (the dependent ones) can do this only as a reflection of that expansion

which can have either a positive or negative effect on their immediate development.)

अर्न्तनिर्भरता को निर्भर देशों की विशेषता अथवा लक्षण नहीं माना जाता है अपितु इसकी परिभाषा विकसित देशों के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में की जाती है। यह वह स्थिति होती है जो निर्भर देश के विकास करने की क्षमता को परिसीमित करती है। यह पूँजीवाद के विस्तार के द्वारा प्रतिबन्धित होती है। उसका परम्परागत स्वरूप साम्राज्यवाद अथवा उपनिवेशवाद था जबकि इसका वर्तमान स्वरूप नव-उपनिवेशवाद है अर्थात अविकसित परिधि राज्यों अथवा नवीन उदय हुए राज्यों (जो पहले साम्राज्यों के उपनिवेश थे) की निर्भरता की स्थिति है जिसमें यह देश विकसित राज्यों जो कि पहले साम्राज्यवादी देश हैं तथा जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र हैं, पर निर्भर बने हुए हैं। निर्भरता सिद्धान्त के अधिकतर समर्थक अपने विचारों का प्रतिपादन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वर्तमान व्यवस्था की प्रकृति तथा क्षेत्र का विश्लेषण करने के लिए निम्न स्तर के विकसित देशों की राजनीति तथा उनके अविकसित स्वरूप का विश्लेण करने के लिए केन्द्र-परिधि (Centre periphery) मॉडल का प्रयोग करते हैं। इस तरह निर्भरता सिद्धान्त तीसरी दुनिया के देशों (परिधि देशों) की राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा उनके विकसित देशों (केन्द्रों) के साथ सम्बन्धों का विश्लेषण करने के लिए एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

निर्भरता सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक एंड्रे गुंडर, फ्रैंक वालर्स्टेन, (Andre Gunder Frank Wallerstein) डास सांतोस (Dos Santos) संकल (Sunkel), फुर्तादो (Furtado), स्तावन हेगन (Stavenhegen), युजो फालेटो (Euzo Falleto) तथा फ्रांज फेनन

(Franz Fanon) हैं। ये सभी विचारक इस बात पर सहमत हैं कि तीसरे विश्व के देशों (जिन्हें फ्रान्ज फेनन ने पृथवी के गिरे हुए व दुर्दशा वाले राज्य (The Wretched of the Earth) कहा है)[37] का निम्नस्तरीय विकास इनके नव–उपनिवेशीय अस्तित्व अर्थात, इनकी विकसित देशों पर निर्भरता बाह्य निर्भरता की स्थिति के साथ प्रत्यक्ष रूपा से सम्बन्धित हैं परन्तु इन विचारकों में ऐसी समझ के साथ–साथ कई एक विषयों व प्रश्नों पर तीव्र मतभेद भी हैं।

निर्भरता सिद्धान्त के विकास का इतिहास (History of Evolution of Dependency Theory)

निर्भरता सिद्धान्त की उत्पत्ति का विवरण लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America-ECLA) के कार्य से आरम्भ किया जा सकता है। इस आयोग से सर्वप्रथम लैटिन अमरीका के निम्न स्तर के विकास का विश्लेषण करने तथा सम्भावित समाधानों को सुलझानें का प्रयास किया था। इसने यह पाया कि लैटिन अमरीकी देशों द्वारा बाहर की ओर केन्द्रित प्रोग्राम को अपनाया गया था जो इनके शोषण का यन्त्र बना न कि इनके विकास का साधन। इस आयोग द्वारा लैटिन अमरीका के विद्यमान निम्न स्तरीय विकास के लिए साधारण रूप से विश्व आर्थिक व्यवस्था तथा विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया गया। यह निष्कर्ष निकाला गया कि विकसित देशों (केन्द्रों)तथा निम्न स्तरीय विकसित देशों परिधियों में विश्व का विभाजन ही तीसरी दुनिया के

[37] ओ०पी०गाबा, राजनीति की रूपरेखा

देशों की निरन्तर बनी हुई निम्न स्तरीय विकास व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। परिधि की निर्भरता को केन्द्र द्वारा अपने लाभ के लिए शोषित किया गया था तथा इससे केन्द्र तथा परिधि में आर्थिक औद्योगिक अन्तर बढ़ रहा था लैटिन अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जिस पर विकसित देशों का प्रभुत्व विद्यमान था, पर अधिकाधिक निर्भर हो रहा था।[38]

लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (ECLA) द्वारा किए गये विश्लेषण के प्रभाव के अधीन आरम्भिक निर्भरता सिद्धान्तकारों विशेषकर फुतर्दो तथा सन्कल, ने यह तर्क देना आरम्भ कर दिया कि स्थानीय देशों में आधुनिक पूँजीवादी संस्थाओं के पदार्पण ने ही लैटिन अमरीका व दूसरे निम्न-स्तरीय विकसित राज्यों में निम्न स्तरीय विकास को पैदा किया था। उन्होंने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि निम्न-स्तरीय विकास, विकास की पूर्व स्थिति थी। उन्होंने यह माना निम्न स्तरीय विकास 'विकास' की उत्पत्ति था तथा यह विकसित समाजों द्वारा नियन्त्रित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तकनीकी प्रक्रिया का ही परिणाम था। विकसित तथा निम्न-स्तरीय विकसित राज्यों के बीच सम्बन्धों की प्रकति तथा क्षेत्र ने ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था में एक ऐसे स्वरूप श्रम विभाजन को पैदा किया जिसमें निम्न-स्तरीय विकसित राज्य निर्यात के लिए मूल वस्तुओं के उत्पादक ही बन गये। ऐसे निर्यातों के द्वारा वे विकसित देशों द्वारा बनाई जाने वाली ओद्योगिक वस्तुओं के आयातक बन गये। इस व्यवस्था में वास्तविक तथा भारी लाभ विकसित देशों को ही प्राप्त हुआ। उनमें तथा निम्न स्तरीय विकसित देशों में अन्तर स्थायी हो गया तथा और भी गहरा होने

---

[38] Parker Thomas Moon, **Imperialism and World Politics** (New York, Macmillan, 1927), pp. 75-77.

लगा। निम्न स्तरीय देशों की अर्थ–व्यवस्थाओं को विकसित देशों की अर्थ व्यवस्थाओं पर निर्भर होना पड़ा। ये अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के साथ वास्तविक तथा उचित रूप में एकीकृत होने में असफल रही। यह विकसित देशों पर पूँजी औद्योगिक साजो–सामान, तकनीकी तथा ज्ञान के लिए निर्भर हो गयीं। विदेशी सहायता के उपकरण ने निम्न स्तरीय विकसित देशों की निर्भरता को और भी बढ़ा दिया। विकसित देशों द्वारा अपनायी गयी संरक्षित व्यापार की तथा आर्थिक नीतियों के प्रादुर्भाव ने बहुराष्ट्रीय निगमों, GATT के विकसित राष्ट्रों के हित में झुकाव, UNCTAD की असफलता तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों पर विकसित देशों के नियन्त्रण सभी ने मिलकर परिधियों की केन्द्रों पर निर्भरता को पैदा किया तथा इसे बल दिया।[39]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों तथा निम्न स्तरीय विकसित देशों में विद्यमान राजनीतिक प्रक्रियाओं के विषलेशण में कुछ सिद्धान्तकारों ने इसी निर्भरता को आधार बनाया तथा ऐसे सिद्धान्तकारों के विचारों को सामूहिक रूप से निर्भरता सिद्धान्त का नाम मिला।

---

[39] यु० आर० घई, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, सिद्धान्त और व्यवहार** पृ० 121

ए० जी० फ्रैंक तथा वालर्स्टेन के विचार
(Views of A.G. Frank and Wallerstein)

निर्भरता सिद्धान्त के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान ए० जी० फ्रैंक तथा वालर्स्टेन ने दिया। दोनों ने दृढ़ रूप से यह तर्क दिया कि तीसरे विश्व (परिधि) ने निम्न स्तरीय विकास को विकसित देशों की अर्थ व्यवस्था के विकास और विस्तार ने संचालित तथा निर्देशित किया है। उन्होनें यह भी माना कि परिधि देशों का विकास विद्यमान विश्व पूँजी व्यवस्था में नहीं हो सकता क्योंकि यह धनिक राज्यों (केन्द्रों) के पक्ष में है तथा परिधियों के लिए हानिकारक है। निम्न स्तर के विकसित राज्य विकसित राज्यों के अधीन ही जीवित रह रहे थे। विकास सिद्धान्तों द्वारा सुझाए गये आयात-बदलाव औद्योगीकरण विचार ने तीसरे विश्व के देशों की समस्याओं का समाधान नहीं किया। विकास करने की अपेक्षा अब तीसरे विश्व के राज्यों की अर्थ-व्यवस्था विकसित राज्यों की अर्थ-व्यवस्थाओं पर और भी अधिक निर्भर हो गयी। विद्यमान व्यवस्था को जड़ से समाप्त करके ही निम्न स्तरीय विकसित राज्य अब अपना विकास कर सकते है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहाँ कुछ निर्भरता सिद्धान्तकारों ने समाजवादी क्रान्ति लाने का समर्थन किया वहाँ कुछ अन्यों ने उदारवादी सुधारों व्यापार में सन्तुलन स्थापित कर क्षेत्रीय सहयोग द्वारा सौदेबाजी की स्थिति में शक्तिशाली होकर नयी तकनीकों को वृहद् आर्थिक उपकरणों के द्वारा अपना कर इस उद्देश्य की प्राप्ति की वकालत की।

डास सान्तोष के समान ए० जी० फ्रैंक का विचार है कि लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (ELCA) का संरचनात्मक दष्टिकोण द्वारा लैटिन अमरीका के निम्न-स्तरीय विकास को बाहरी परिप्रक्ष्य वाले

विकास मार्ग की गलत पसन्द (Mistaken Choice) बताया जाना एक भूल है। उन्होनें वर्तमान आर्थिक सम्बन्धों को असमान प्रकृति के सम्बन्ध बतलाया जो कि ठीक था उन्होने दुर्भाग्यवश इसमें एकाधिकार मुक्त उपनिवेशी संरचनाओं तथा विदेशी पूँजी निवेश (Investment) तथा निम्न-स्तरीय विकसित देशों की आन्तरिक उपनिवेशीय संरचना को अनदेखा कर दिया।[40]

फ्रैंक ने पश्चिम में पूँजीवाद के विकास सन्दर्भ में ही निम्न-स्तरीय विकास की प्रक्रिया की व्याख्या की। उसने यह मत दिया कि परिधि की निम्न-स्तरीय विकास अवस्था विकसित पश्चिम के विकास एवं विस्तार द्वारा प्रतिबन्धित है। उसने डास सान्तोस के साथ सहमति प्रकट की तथा यह माना कि निर्भरता एक परिसीमित करने वाली स्थिति है जो कि परिधि के राज्यों के विकास की सम्भावना को सीमित करती है।

ए० जी० फ्रैंक ने यह वकालत की कि निम्न स्तर का विकास वास्तव में अधिकतर स्वरूप में विकसित अधीन राज्यों परिधियों तथा विकसित केन्द्रों में सम्बन्धों से इतिहास की उपज है। आज के समय में विश्व व्यवस्था में कुछ एक विकसित राज्य अधीन राज्यों (परिधियों) की एक बड़ी संख्या के विकास को नियान्त्रित कर रहे हैं अवरूद्ध कर रहे हैं अथवा इसे धूमिल कर रहे हैं। वह कई एक लैटिन अमरीकी राज्यों का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि करता है।

फ्रैंक ने लैटिन अमरीकी राज्यों की अर्थ-व्यवस्थाओं का गहन अध्ययन किया तथा यह निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद के तीन

[40] यु० आर० घई, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार**, पृ० 121

विरोधाभास हैं जो कि इनके निम्न-स्तर के विकास के लिए उत्तरदायी थे।[41]

1- फ्रैंक आर्थिक अतिरेक (Economic surplus) के विनियोग तथा छीना-झपटी के विरोधाभास की बात करता है (Frank refers to the contradiction expropriation/appropriation of the economic surplus) विश्व पूँजीवाद व्यवस्था की एकाधिकार वाली संरचना इस अतिरेक को छीन लेती है तथा एक चेन की भाँति पूंजीवादी सम्बन्धों (Captalist links) को पूँजीवादी विश्व तथा राष्ट्रीय केन्द्रों तथा इनसे क्षेत्रीय केन्द्रों तथा इनसे स्थानीय केन्द्रों तथा इसी तरह आगे भी स्थापित करती है। यह विरोधाभास विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की शोषण, प्रकृति और क्षेत्र को दर्शाता है।

2- दूसरा विरोधाभास महानगरीय अनुषंगी ध्रुवीकरण (Metropolis-Satellite polarisation) है। इसका अर्थ है, जैसा कि फ्रैंक कहता है, आर्थिक विकास तथा निम्न-स्तर का विकास दोनों सम्बंधित तथा गुणात्मक है। संरचनात्मक रूप में दोनों दूसरे से भिन्न होते है परन्तु फिर भी प्रत्येक दूसरे के साथ सम्बन्धों द्वारा उतपन्न होता है।" (The economic development and underdevelopment are relational and qualitative in that each is structually different from, yet caused by its relation with the other.)

3- तीसरा तथा अन्तिम विरोधाभास जो कि निम्न स्तर के विकास.को जन्म देता है, वह है परिवर्तन में निरंतरता (Continuity in change) के साथ सम्बन्धित है। पूँजीवादी व्यवस्था के विस्तार एवं

---

[41] यु० आर० घई अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सिद्धान्त एवं व्यवहार पृ० 123

विकास ने अपनी आवश्यक संरचनाओं तथा विरोधाभासों को बनाए रखा है तथा इस प्रक्रिया में यह निम्न स्तर के विकसित देशों में निम्न स्तरीय विकास का स्रोत है।

निम्न-स्तर के विकसित देशों के निम्न-स्तरीय विकास का विश्लेषण करते हुए फ्रैंक यह कहता है कि विकसित के समक्ष उनकी अधीनस्थ राज्यों की स्थिति, उनके सीमित विकास का स्रोत रही है। समय बीतने के साथ-साथ उनका केन्द्रों के साथ सम्बन्ध उनके निरन्तर निम्न स्तरीय विकास को बनाए रखते हैं तथा इसमें वृद्धि करते हैं। विकसित देशों का आर्थिक पुनरूत्थान भी उनके अधीनस्थ की विकास प्रक्रिया को सीमित करता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जो क्षेत्र अब बहुत निम्न स्तरीय विकास वाले है भूतकाल में अपने केन्द्रों के साथ कठोर रूप में जुड़े हुए थे।[42]

निम्न स्तर में विकसित देश किस साधन से अपने निम्न स्तरीय विकास की समस्या पर काबू पा सकते है इस प्रश्न के उत्तर में ए० जी० फ्रैंक यह सुझाव देता है कि पहले वास्तविक शत्रु को पहचानना चाहिए। वह यह विश्वास करता है कि पहले रूप में शत्रु साम्राज्यवाद रहा है आज जिसको समाप्त करने की आवश्यकता है वह है बुर्जुआ वर्ग जो कि निर्भर देश के अन्दर ही जीवित एवं सक्रिय होता है। यह साम्राज्यवाद अब नव उपनिवेशवाद के एजेन्ट की भाँति कार्य कर रहा है। ऐसे सामाजिक वर्ग के विरूद्ध कार्यवाही घरेलू स्तर पर की जानी आवश्यक है। इसके साथ फ्रैंक यह मानता है कि निर्भरता तथा निम्न स्तरीय विकास चक्र की समाप्ति आर्थिक सुधारों जैसे उद्योगीकरण तथा आयात परिपूर्णता आदि के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकती। ऐसा घरेलू

[42] Delbert A Snider, **Introduction to International Economics**, (Homewood, Ill , Irwin, 1963)

तथा विश्व केन्द्रों पर केन्द्र-परिधियों के सम्बन्धों के विरूद्ध समाजवादी क्रान्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूँजीवाद तथा समाजवाद के विचारों को न मानते हुए भी फ्रैंक विद्यमान व्यवस्था की समाप्ति के लिए समाजवादी क्रान्ति की आवश्यकता को स्वीकार करता है। उसका यह विश्वास है कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था जो कि आजकल प्रचलित है, के सन्दर्भ में निम्न-स्तर का विकास ही पनप रहा है, उच्च-स्तरीय विकास नहीं। केवल समाजवादी क्रान्ति ही निम्न स्तरीय विकास को समाप्त कर सकती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि कि फ्रैंक कुछ सीमा तक मार्क्सवादी है परन्तु वह मार्क्स द्वारा प्रस्तावित समाजवादी क्रान्ति के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता वह तो निर्भरता सिद्धान्तकार है।

वालर्स्टेन के विचार

(Views of Wallerstein)

ए० जी० फ्रैंक की तरह वालर्स्टेन भी विकास तथा निम्न स्तरीय विकास को एक ही ऐतिहासिक प्रक्रिया पूँजीवादी विकास एवं विस्तार के दो भिन्न परिणाम मानता है। विश्व पूँजीवादी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए वह केन्द्र परिधि मॉडल को अपनाया है। वह पश्चिम के आर्थिक विकास की व्याख्या करता है तथा इससे उत्पन्न शोषण के चरित्र का वर्णन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में परिवर्तन अर्थात विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों (सामाजिक व्यवस्था) के विश्लेषण द्वारा करता है।

सामाजिक सम्पूर्णताओं (Social totalities) को वालर्स्टेन (जैसा कि डा० सुनील कुमार साहू कहते हैं) ने श्रम-विभाजन के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। एक इकाई (unit) पूर्णतया तब बनती है जब इसके अन्दर एक एकल श्रम विभाजन (Single Division of labour) आ जाता है। वालर्स्टेन के अनुसार मुख्य रूप से केवल दो प्रकार के विस्तृत स्तर की सामाजिक व्यवस्थाएं विद्यमान है।-

(1) साम्राज्य (Empire) जिसमें कार्यात्मक आर्थिक विभाजन को साम्राज्यशाही-राज्य के प्रभुत्वाधीन रखा जाता है; तथा

(2) विश्व आर्थिक व्यवस्थाएं, जिनमें कई एक राजनीतिक सम्प्रभु होते हैं, जिनमें से कोई भी अकेला समस्त आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम नहीं होता। युद्धोत्तर काल में साम्राज्यों का अन्त हुआ परन्तु इसके साथ स्वतंत्र सत्ता संपन्न राज्यों (लैटिन अमरीका देशों सहित)की विकसित राज्यों पर नव-उपनिवेशीय निर्भरता की उत्पत्ति भी हुई, जो व्यवस्था इस तरह बनी है वह एक विश्व

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था है जोकि भौगोलिक रूप में विभाजित श्रम-विभाजन है जिसकी तीन संरचनात्मक स्थितियां हैं केन्द्र(Core) ,परिधि(Periphery) तथा अर्ध-परिधि (Semi-periphery)। ये विश्व बाजार व्यापार में इकट्ठी बंधी हुई हैं। साम्राज्यों के अन्त से केन्द्रों के परिधियों के ऊपर से राजनीतिक प्रभुत्व की स्थिति का ही अन्त हुआ, आर्थिक रूप में पहले का दूसरे पर प्रभुत्व अभी भी बना रहा।आर्थिक समकालीन व्यवस्था में विकसित (केन्द्र) तथा निम्न-स्तरीय विकसित(परिधि) के मध्य असमान विनिमय (Unequal Exchange) की प्रकृति ही बनी हुई है। इस व्यवस्था का कार्यात्मक स्वरूप कई तत्वों- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक तत्वों के द्वारा परिसीमित है। यह विकसित केन्द्रों की सहायता कर रहा है जिसमें वह परिधियों की अर्थ व्यवस्थाओं तथा आर्थिक नीतियों पर अपने नियंत्रण को न केवल विद्यमान रख रहे हैं अपितु इसका विस्तार तथा दृढ़ीकरण भी कर रहे हैं, परिधियां केन्द्रों पर निर्भरता का जीवन बिता रही हैं।[43]

वालर्स्टेन ने केन्द्रों के विकास तथा परिधियों के निम्न-स्तरीय विकास का विश्लेषण किया तथा यह मत दिया कि केन्द्र का विकास और परिधि का निम्न-स्तरीय विकास दोनों पूँजीवादी विस्तार की प्रक्रिया तथा दोंनों में असमान हस्तांतरणों के साथ सम्बन्धित है। (Both the development of the core and the underdevelopment of the periphery are related to the process of capitalist expansion and the unequal exchanges between them)केन्द्रों के पास परिधियों के स्रोतों, साधनों तथा श्रम का शोषण करने की क्षमता और योग्यता है और यह ऐसा कर भी रहे हैं। इस

[43] Koebner, Richard, and Schmidt, Helmut Dan, **Imperialism** (Cambridge, Cambridge University Press, 1964)

प्रकार वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में परिधियों का निम्न-स्तरीय विकास निरन्तर बना हुआ है।

फ्रैंक की भांति वालर्स्टेन भी इस बात को मानता है की वर्तमान पूँजीवादी विश्व अथ-व्यवस्था की विद्यमानता में परिवर्तन होने की सम्भावना धूमिल ही है। यहाँ तक कि परिधि राज्यों द्वारा उत्पादन के साधनों को अपने हाथों में केन्द्रित करके भी अपनी निर्भरता तथा निम्न-स्तरीय विकास पर काबू नहीं पाया जा सकता। इसी कारण वालर्स्टेन भी यह स्वीकार करता है कि समस्या का समाधान केवल समाजवाद की प्राप्ति ही है। परन्तु यह विद्यमान पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिये समाजवादी क्रान्ति का समर्थन नहीं करता। वह हीगल के समान पूर्णता की प्राथमिक्ता की वकालत करता है। (Like Hegel, Wallerstein insists on the primacy of totality) क्योंकि पूँजीवादी एक विश्व व्यवस्था है, उसे सम्पूर्ण रूप में परिवर्तित करके ही समाजवाद में बदला जासकता है। क्योंकि वालर्स्टेन पूँजीवादी विश्व-व्यवस्था के निरपेक्ष झुकावों को स्वीकार करता है, इसलिए वह यह विश्वास करता है कि आने वाले समय अथवा 21वीं या 22वीं सदी में पूँजीवाद के आन्तरिक विरोधाभास इसे समाप्त कर देंगे। यह व्यवस्था समाजवाद में बदल जायेगी तथा परिधियों की केन्द्र पर निर्भरता का अन्त हो जायेगा तथा सामाजिक हस्तान्तरणों के युग का आरम्भ होगा।[44]

---

[44] यु०आर० घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति- सिद्धान्त एवं व्यवहार, पृ० 124

निर्भरता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यॉकन
Critical Evaluation of Dependency Theory

विकसित तथा निम्नस्तरीय विकसित देशों में सम्बन्धों के क्षेत्र तथा प्रकृति के स्वरूप तथा निम्नस्तरीय देशों में चल रही राजनीति के व्यवस्थाओं की राजनीति का दिलचस्प तथा गहन विश्लेषण निर्भरता सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस उद्देश्य के लिये अधिकतर निर्भरतावादी सिद्धान्तकारों ने परिधि-केन्द्र मॉडल का प्रयोग किया है। वे निम्नस्तरीय विकसित देशों का वर्णन निर्भरता की स्थिति के रूप में करते हैं, जिसकी उत्पत्ति विश्व स्तर पर पूँजीवाद के विस्तार के कारण हुई है। अधिकतर निर्भरता सिद्धान्तकार यह विश्वास रखते हैं कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर तथा इसके बने रहने तक निम्नस्तरीय विकास का कोई विकल्प नही हो सकता। जैसा कि डॉब (Dobb) ने 'Studies in the Development of Capitalism' व्याख्यानमाला में पूँजीवाद को एक ऐतिहासिक समस्या बताते हुए कहा है कि - यह सामंतवाद के अन्दर से पैदा नहीं हुआ, बल्कि कृषकों और मजदूरों द्वारा भूस्वामियों को वैधानिक रूप दिये गये लगान के द्वारा पैदा हुआ है।

" It seems evident that in Seventeenth century England the domestic industry... remained the most typical form of production. In other words, peasants and artisanal

production, not capitalist production, was still the dominant form."[45]

इसी कारण ऐसे सिद्धान्तकार भी हैं जो निर्भरता तथा निम्नस्तरीय विकास की समस्या के समाधान के लिये समाजवाद का समर्थन करते हैं, जिसकी प्राप्ति समाजवादी क्रान्ति अथवा उदारवादी सुधारवादी आन्दोलनों द्वारा हो सकती है।

लेकिन सिद्धान्त के आलोचक इस सिद्धान्त की कई एक त्रुटियों तथा सीमाओं का उल्लेख करते हैं।[46]

प्रथम आलोचक यह कहते हैं कि निर्भरता सिद्धान्तकार तथा निम्नस्तरीय विकास की प्रकृति का स्पष्ट विश्लेषण करते समय एकमत नहीं हैं। वे निर्भरता सम्बन्धों का विश्लेषण, इसकी समाप्ति के लिये साधनों तथा विकल्पों के सझावों के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार देते हैं। निर्भरता सिद्धान्त एक सिद्धान्त न होकर कई विचारों का समूह है।

दूसरा, निर्भरता सिद्धान्तकारों का एक संगठित मंच एकमत दृष्टिकोण नही रखता है। उनमें कुछ समाजवादी-राष्ट्रवादी हैं जैसे फुर्तादो तथा सन्कल जबकि कुछ दूसरे उग्र-सुधारवादी (Radicals) हैं जैसे डास सन्तोस तथा कुछ दूसरे क्रान्तिकारी समाजवादी हैं, जैसे ए०जी० फ्रैन्क अथवा समाजवादी हैं जैसे वालर्स्टेन। जहां इनमें से कुछ तो पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण परिवर्तन या तो क्रान्ति के द्वारा या उग्र सुधारवादी आन्दोलनों के द्वारा चाहते हैं तो कुछ दूसरे केन्द्र तथा परिधियों के सम्बन्ध में संरचनात्मक सुधारों तथा नई तरह के सहयोंग

---

[45] इरफान हबीब **Capitalism in History** से उद्धृत, पृ० 5
[46] यु०आर० घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति- सिद्धान्त एवं व्यवहार, पृ० 126-127.

की स्थापना के द्वारा परिधि राज्यों की निर्भरता की समाप्ति का पक्ष लेते हैं।

तीसरे जैसा कि एस०ए० साहू ने लिखा है - "निर्भरता सिद्धान्त के लेखकों ने परिधि में पूँजीवादी व्यवस्था की आवश्यक्ता पर चोट की है न कि उनके निर्भरता के स्तर पर।" (The authors of the dependency theory have concerned themselves with attacking the desirability of the capitalist system in the periphery rather than 'the dependent states')

चौथे, तीसरी दुनिया के राज्यों के निम्नस्तरीय विकास के विश्लेषण के वक्त यह पाया जाता है कि इस स्तर की प्रक्रिया तथा क्षेत्र अलग-अलग देशों तथा महाद्वीपों में भिन्न-भिन्न है।अगर निर्भरता विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के विस्तार की ही परिणाम होती तो यह अपनी प्रकृति तथा क्षेत्र में लगभग एक जैसी होती। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीकी देशों में निम्नस्तरीय विकास की प्रकृति तथा क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न ही हैं।

पॉचवें, आलोचक यहाँ तक कह देते हैं कि निर्भरता सिद्धान्तकारों द्वारा प्रयुक्त असमान विनिमय की धारणा तीसरी दुनिया के देशों में विद्यमान निम्नस्तरीय विकास के कारणों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने में असफल और असमर्थ है। तीसरी दुनिया के देशों की विकसित देशों पर निर्भरता के सम्बन्ध में असमान हस्तान्तरण का जो कारण माना जाता है इसकी प्रकृति तथा क्षेत्र का किसी सर्वमान्य सिद्धान्त के आधार पर परिमापन नहीं किया जा सकता।

छटवें, तीसरी दुनिया का निम्नस्तरीय विकास बहुत सीमा तक उसके आंशिक उद्योगीकरण के कारण है। इसके लिये निम्नस्तरीय

विकसित राज्यों द्वारा अच्छी, उचित रूप से निर्मित तथा लागू की जाने वाली औद्योगिक नीतियों के सम्बन्ध में असफलता भी उत्तरदायी रही है। निम्नस्तरीय विकसित राज्य भी अपने भैतिक एवं मानवीय स्रोतों का पूर्ण उपयोग करने में असफल रहे हैं। इस बात का अनुमान कि निम्नस्तरीय विकसित राज्य अपने अपूर्ण विकास तथा निर्भरता की स्थिति के लिये उत्तरदायी हैं, इस तथ्य से भी लगाया जासकता है कि जहां भारत, ब्राजील, यहां तक कि मैक्सिको जैसे देश काफी सीमा तक औद्योगिक तथा तकनीकी विकास करने में सफल रहे हैं, वहां तीसरी दुनिया के अन्य राज्य ऐसा नही करपाये हैं।[47]

सातवें , निर्भरता सिद्धान्तकारों द्वारा विश्व को केन्द्र तथा परिधि का महानगर तथा अधीन, विकसित तथा पथ से विमुक्त करने जैसा कार्य है। यह स्वीकार करना वास्तव में कठिन है कि सभी निम्नस्तरीय विकसित देश भारत तथा ब्राजील जैसे स्थानीय महादेशों सहित विकसित राज्यों पर समान रूप से निर्भर हैं।

भूतपूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी युरोप के समाजवादी देशों में विकास के समाजवादी व्यवस्था की असफलता ने स्पष्ट रूप से यह दिखा दिया कि निर्भरता को समाजवादी क्रान्ति अथवा समाजवाद द्वारा समाप्त नहीं किया जासकता। विश्व स्तर पर लगभग सर्वव्यापक रूप में ऐसे सिद्धान्तों मुक्त व्यापार, बाजार अर्थ–व्यवस्था, मुक्त प्रतियोगिता, विकेन्द्रीकरण, लोकतंत्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण, विकास के लिये क्षेत्रीय सहयोग तथा कार्यात्मकता आदि को आज के युग में मान्यता प्राप्त हुई है। ऐसा होना उन सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करने को

---

[47] **यु०आर० घई, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति– सिद्धान्त एवं व्यवहार, पृ० 135-137.**

प्रतिबिम्बित करता है जो तीसरी दुनिया के देशों पर निर्भरता के लिये पूँजीवादी व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराते हैं।

आलोचक निर्भरता सिद्धान्त की कई एक त्रुटियां और सीमायें बतलाते हैं। ए०जी० फ्रैन्क के विचारों की आलोचना करते हुए प्रो० साहू ने लिखा है कि " फ्रैन्क का मॉडल विशेष रूप से खंखार महानगर तथा खूँखारपन के शिकार उपग्रहों का मॉडल आवश्यक रूप में एक शीर्ष, स्थिर तथा चार्ट मॉडल ही है यह निष्कर्ष कि परिधियों के सामाजिक रचनाओं की प्राप्ति इस बात पर निर्भर करती है कि किस प्रकार इन्हें विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में ढाला गया वास्तव मं सर्वमान्य अथवा सर्वव्यापक नही है।" फ्रैन्क तथा सन्तोस की अवधारण के विपरीत कई एक उदाहरण यह उद्धृत करते हैं कि परिधि समाजों की प्रकृति ही उनके पूँजीवादी विश्व के साथ सम्बन्धों का निर्धारण करती है। उदाहरण के लिये भारत के द्वारा चुना गया आर्थिक विकास का मार्ग बहुत से दूसरे विकासशील राज्यों से काफी भिन्न है, इसके समाज तथा राज व्यवस्था की प्रकृति के कारण रहा है, तथा इसी ने इसके बाहरी दुनिया के साथ सम्बन्धों का निर्धारण किया है। अतः औपनिवेशिक तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को परिवर्तन(निर्भरता)के प्रमुख स्रोत मानना आन्तरिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों, जो पहले (पूँजीवादी विश्व) के साथ अन्तःक्रियाओं द्वारा विशिष्ट ऐतिहासिक परिणाम पैदा करते हैं, के महत्व को दृष्टि से ओझल करना है।

परन्तु आलोचना के इन सभी तर्कों का यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि निर्भरता सिद्धान्त की कोई महत्ता नहीं है। इस सिद्धान्त ने विकास तथा निम्न-स्तरीय विकास के पश्चिमी सिद्धान्तों की त्रुटियों को प्रस्तुत किया, इतना ही नहीं इस सिद्धान्त ने विकास तथा

निम्न-स्तरीय विकास के ऐतिहासिक क्रम तथा सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक तथा सांस्कृतिक तत्वों के विश्लेषण पर भी बल दिया, इसमें संरचनात्मक कार्यात्मक सिद्धान्तवादियों द्वारा प्रस्तुत विकास के निरन्तरता मॉडलों की आलोचना करके भी अच्छा कार्य किया है। इसने उनेक पूर्वाग्रहों को नकारा है। यह ठीक है कि अपने आप में यह सिद्धान्त भी न तो निम्न-स्तरीय विकास की प्रकृति तथा क्षेत्र का वस्तुनिष्ठ और प्रभावी विश्लेषण कर सका है और न ही निर्भरता की स्थिति को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए सम्भावित समाधान प्रस्तुत कर सका है तथापि यह मानना पड़ेगा कि यह व्याख्या-योग्य निर्भरता तथा निम्न-स्तरीय विकास के लक्षणों तथा दुष्परिणामों को पहचानने में सफल रहा है। यह निर्भरता की विशेषताओं को प्रकट करता है तथा इनके कारणों, सम्बन्धों जिनसे यह उत्पन्न होती है, को भी निश्चित करता है। निर्भरता सिद्धान्तवादी विस्तार कर रही विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को दूर करने की आवश्यक्ता की जो बात करते हैं, वह अवश्य ही ध्यान देने योग्य है।

अध्याय-तीन
ब्रिटिश उपनिवेशवाद

ब्रिटिश उपनिवेशवाद

कृषि व्यवस्था

भारत में आर्थिक, समाजिक जीवन को किसी भी विजेता ने उतना अधिक प्रभावित तथा परिवर्तित नहीं किया जितना कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने किया। अंग्रेजों से पहले जो विजेता आये थे उन्होंने केवल राजनीतिक दृष्टि से वंश-परिवर्तन ही किया और आर्थिक व्यवस्था के सामाजिक गठन व सम्बन्धों को पूर्णतया परम्परागत भारतीय व्यवस्था के अनुकूल ही रहने दिया साथ ही वे स्वयं भी 'हिन्दुस्तान में समा गये क्योंकि वे सब ऐसे बर्बर विजेता थे जिन पर एक उच्चतर संस्कृति ने विजय प्राप्त कर ली। लेकिन अंग्रेज ऐसे पहले विजेता थे जिन्होंने प्रारम्भिक समाज को तोड़कर प्राचीन उद्योगों को तो समाप्त किया ही, साथ ही प्रारम्भिक समाज में जो कुछ उच्चतर था उसको भी समाप्त कर दिया।''[1]

सम्राज्यवादी अंग्रेजों ने भारतीय कृषि व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए। नवीन भू-धृति पद्धतियां, स्वामित्व धारणाएं भाटकी में परिवर्तन तथा अधिकाधिक भू-राजस्व की मांग ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किए जिससे समस्त देश के कृषि जगत में खलबली मच गयी तथा एक विकृत आधुनिकता सी आ गयी।[2]

---

[1] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद पृष्ठ 44

[2] बी. एल. ग्रोवर तथा यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास , पृ. 159

प्राक्-ब्रिटिश भारत की अर्थव्यवस्था एक सन्तुलित व्यवस्था थी। आर्यो के काल से ही भारतीय ग्राम स्थानीय स्वशासन तथा भूमिकर की इकाई के रूप में कार्य करते रहे है। पूर्व-पूँजीवादी व्यवस्था में भूमि का पूर्ण स्वामित्व किसी का नही था। सभी भूमि से सम्बन्ध रखने वाले वर्गों का भूमि पर अधिकार था। कृषक को पट्टेदारी का संरक्षण उसी समय तक प्राप्त था जब तक वह स्वामी को परस्पर निश्चित किया हुआ भाग देता रहे। पाटिल अथवा ग्राम का प्रधान मामलातदार अथवा नवाब की ओर से नियुक्त कर समाहर्त्ता का कार्य करता था। वह स्थानीय दण्डनायक भी हुआ करता था। पाटिल ही कृषि से सम्बद्ध विशेष भूमि का विशेष लोगों में बंटवारा इत्यादि सिंचाई की सुविधाएं व्यक्तिगत कृषकों पर भूमिकर लगाना तथा एकत्रित करना इत्यादि सभी कार्य, ग्राम पंचायत की सहायता से स्थानीय रीति-रिवाजों के अनुसार पूरा करता था।[3] मार्क्स के शब्दों में प्रशासन की दृष्टि से "ग्रामप्रमुख न्यायाधीश पुलिस और तहसीलदार का मिला-जुला रूप है। बहीखाता रखने वाला जुताई का हिसाब भी रखता है। एक पदाधिकारी विशेष अपराधियों का चालान करता है और दूसरे गाँव की सीमा तक पहुँचा देता है सीमारक्षक पड़ोसी समुदायों से गाँव की चौहद्दी की रक्षा करता है, पानी का ओवरशियर सामूहिक जलाशयों से सिचाई के लिए पानी का वटवारा करता है।[4] आर्थिक दष्टिकोण से कृषि तथा कुटीर उद्योग दोनों ही अर्थव्यवस्था के आधार थे। पूँजीवादी व्यवस्था के अभाव में प्राक-ब्रिटिश भारतीयों का जीवन बहुत सादा था। उसकी अधिकतर आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाया करती थी। गाँव की जरूरतों की पूर्ति गाँव में ही होने के कारण गाँव और शहर में किसी तरह का

[3] वही पृ 159
[4] सत्या राम, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद से उद्धृत पृ. 45

सम्बन्ध न था। लगभग पूर्ण अलगाव की स्थिति थी इसी अलगाव के कारण किसी भी उच्चतर अर्थव्यवथा को जन्म नहीं दिया जा सका।

शहरों में उत्पादन कलात्मक दृष्टिकोण से और राजघरानों, सामंतों तथा विदेशी माँग व रूचि को सामने रखकर किया जाता था। इसका गाँव के सीधे-सादे जीवन में कोई स्थान न था। इस कारण उत्पादन देशव्यापी न बन सका। इसके अलावा गाँव का अतिरिक्त धन" जो कि शहर के विनिमय के लिए प्रयोग होता था 'कर' के रूप में राजा, सामंतों व जमीनदारों द्वारा वसूला जाता था। यही कारण है कि प्राक्-ब्रिटिश भारत में वाणिज्यिक जातियों जैसे साहूकार व्यापारी आदि का बड़े पैमाने पर प्रादुर्भाव नहीं हो सका जो कालान्तर में युरोपीय ढंग से सुदृढ़ व्यवस्थित मध्य वर्ग का रूप ग्रहण कर सकते।[5]

सामाजिक स्तर पर भी भारत की जनता का गठन आर्थिक हितों के आधार पर न होकर जातीय व कार्य के आधार पर ही था। इसके साथ ही प्राक् ब्रिटिश भारत में राजकीय सामंती व्यवस्था विद्यमान थी जो कि ब्रिटिश सामंती व्यवस्था के विपरीत थी। यहां भूमि पर निजी स्वामित्व नहीं था वरन सामूहिक स्वामित्व था। समाजिक बन्धनों के मजबूत होने के कारण भूमि जन-जाति या उसके उपविभाजन जैसे ग्राम समुदाय, गोत्र या बिरादरी भी होती थी वह कभी राजा की सम्पत्ति नहीं मानी गयी। जो भूमि कृषि योग्य नहीं थी वह सभी गाँव वालों के लिए हल-पानी की तरह सुलभ थी। सामूहिक आधिपत्य होने के कारण गाँव का उत्पादन विनिमय के लिए तो उपलब्ध था किन्तु उसे बेचा नही जा सकता था। यहां तक कि भूमि भी कभी पण्य वस्तु नहीं रही।

[5] निर्मल पुरी द्वारा लिखित शीर्षक *"कृषि व्यवस्था तथा उत्पादन पर औपनिवेशिक प्रभाव*, सत्या राय, भारत में राष्ट्रवाद एवं उपनिवेशवाद से उद्धृत पृ. 45

लगान आदि का निर्णय भी गाँव की ओर से लिया जाता था जो कि फसल का ही भाग होता था। लगान खड़ी फसल के आधार पर ही लगाया जाता था और इसकी मात्रा कभी पहले से निश्चित नहीं होती थी।

सामाजिक विभाजन जाति प्रधान था, अर्थप्रधान नही। ग्रामीण स्तर पर सामाजिक भेदभाव थे लेकिन आर्थिक भेदभाव नहीं थे क्योंकि सभी प्रकार के कारीगर गाँव में रहते थे। शहरों में भी राजकीय सामंत कारीगर कलाकार आदि रहते थे। आधुनिक वर्ग जैसे बड़े-बड़े पूँजीपति व्यापारी दलाल, पेशेवर लोग बुद्धिजीवी आदि थे तो लेकिन इनकी संख्या बहुत ही कम थी। गाँवों की सन्तुलित व्यवस्था की वजह से शहर का औद्योगिक और वाणिज्यिक वर्ग अपने व्यापारिक कार्यो का बहुत अधिक विकास नहीं कर पाया, इसलिए ये वर्ग आर्थिक क्षेत्र में एक शक्ति के रूप में न उभर सके। फलतः भारतीय अर्थव्यवस्था राजनीति को प्रभावित न कर पायी। जिससे वह वह नई नयी आर्थिक व्यवस्था को जन्म न दे सकी।

इन परिस्थितियों में जब एक उच्चतर आर्थिक पूँजीवादी व्यवस्था का भारत पर हमला हुआ तो निश्चय ही भारत उसका विरोध नहीं कर सका। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय समाज के उन आत्मनिर्भर गाँवों के हृदय पर वार किया जो सदियों से भारत के आर्थिक जीवन की मूल इकाई थे। अर्थव्यवस्था के मूल आधार चरखे और करघे को तोड़कर उन्होंने एक ऐसी महानतम क्रान्ति कर डाली जो एशिया में पहले कभी देखी-सुनी नही गयी थी। इस क्रान्ति के जरिए ब्रिटिश लोगों ने पुरानी राजकीय सामंती व्यवस्था को जन्म दिया। उन वस्तुओं को पण्य बना दिया जो पहले कभी पण्य नहीं रही थीं

और उन सामाजिक वर्गों को जन्म दिया जिनसे भारत कभी परिचित नहीं था।

अंग्रेजी भूमिकर व्यवस्था तथा प्रशासनः

अंग्रेज भारत को एक बड़ी जागीर मानते थे अर्थात उद्‌देश्य यह था कि अधिकाधिक आय के हेतु आर्थिक भाटक लेने का प्रयत्न किया जाये। फलस्वरूप किसान के पास केवल कृषि का व्यय तथा उसके श्रम की मज़दूरी ही रह जाती थी। उन्होंने भूमिकर की नीलामी की तथा अधिकाधिक कर देने वाले को भूमि दी जाती थी।[6] कृषि के क्षेत्र में कम्पनी ने पहला कदम बंगाल में लगान वृद्धि करके उठाया। 1764-65 में लगान के रूप में वसूलने योग्य रकम " केवल बंगाल" में 81,75,533 रूपये थी जिसको कम्पनी ने अपने पहले ही वित्तीय वर्ष में लगभग दोगुना " 11404675 रू०" कर दिया। इस लगान में बराबर वृद्धि होती रही। और 1690–91 तक यह रकम 2680000 पौण्ड हो गयी। इस तरह से भरत का धन एक बरसाती नाले की तरह से इंग्लैण्ड की ओर बहने लगा। भारत के धन की मदद से होने वाले परिवर्तन से पहले ब्रिटेन में जो औद्योगिक परिस्थितियां थीं उनके बारे में वैंस का मत है कि– "1760 से पहले लंकशायर में सूत कातने की मशीन वैसी ही साधारण थी जैसी कि भारत में, जब कि ब्रिटिश लोहा–उद्योग पूरी तरह से पतन के हालत में था। इसी समय राज्य में इस्तेमाल होने वाले लोहे का 4/5 भाग स्वीडन से आता था। संभवतः जब से दुनिया कीं शुरूआत हुई है किसी पूँजी निवेश में इतना ज़बरदस्त मुनाफा नहीं हुआ होगा जितना भारत की लूट से इंग्लैण्ड

---

[6] बी एल ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ0 159

को हुआ क्योंकि लगभग 50 वर्षों तक इंग्लैण्ड को किसी भी प्रतियोगी का सामना नहीं करना पड़ा। 1694 से 1757 तक विकास की गति काफी धीमी रही लेकिन 1760 से 1767 के बीच विकास की गति में आश्चर्यजनक वृद्धि होती गई।"[7]

1771 में वारेन हेस्टिंग्ज ने लगान व्यवस्था में असंगतियो के कारण दीवानी अधिकार अपने हाथ में ले लिये और लगान वसूली का काम स्वयं कम्पनी की देख रेख मे शुरू किया। वारेन हेस्टिंग्ज ने बोली लगाने की प्रथा शुरू की जिसके परिणाम स्वरूप उच्चतम बोली लगाने वालों को भूराजस्व का अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था में परम्परागत ज़मींदारों के साथ-साथ उस नये बनिये ज़मींदार वर्ग का भी जन्म हुआ जिसने व्यापारिक या अन्य साधनों से धन इकट्ठा किया था। और जो भूमि को निवेश का एक साधन समझता था। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल की अधिक्तर भूमि नये लोगो को मिल गयी। सरकारी आदेशो के अन्तर्गत राजस्व इकट्ठा करने वाले लोग अत्यधिक मांग करने लगे और उस की पूर्ति के लिये कठोर तरीके अपनाने लगे। इसका फल हुआ रैयतों का ज़मीनदारों द्वारा पूरी तरह से निष्कासन और दमन यह भारत के ग्रामीण संगठन में पहली दरार और भारतीय सामाजिक व आर्थिक जीवन पर पहली चोट थी। पुराने ज़माने में अपना प्रबंध संचालन स्वयं करने वाले ग्रामीण समुदाय को उसके कार्यों और प्रशासनिक भूमिका से वंचित कर दिया गया। जो ज़मीन पहले गाँव में साझे की मिल्कियत समझी जाती थी उसे अलग-अलग लोगों में बांट दिया गया।[8] मुख्य रूप से अंग्रेज़ों ने भारत मे तीन प्रकार की

---

[7] निर्मलपुरी के लेख *कृषी व्यवस्था तथा उत्पादन पर औपनिवेशिक प्रभाव,* सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद एंव राष्ट्रवाद से उद्धृत, पृ० 47

[8] आर पी दत्त, आज का भारत पृ0 245.

भू-धृति पद्धतियां अपनाई अर्थात जमींदारी, महालवाड़ी, तथा रैयतवाड़ी। स्थायी ज़मींदारी पद्धति बंगाल, बिहार, उड़ीसा, यू०पी० के बनारस खण्ड तथा उत्तरी कर्नाटक मे अपनाई गयी तथा लगभग समस्त अंग्रेज़ी भारत की 19 प्रतिशत भूमि इसके अधीन आई। महालवाड़ी भू-धृति पद्धति यू०पी० मध्य प्रांत तथा पंजाब में लागू की गयी। जिसके अंतर्गत 30 प्रतिशत भूमि आई। रैयतवाड़ी पद्धति बम्बई तथा मद्रास के अधिकतर भागों में आसाम तथा अन्य भागों में लागू की गयी और इसके अंतर्गत लगभग 51 प्रतिशत भूमि आई।[9]

स्थायी ज़मींदारी व्यवस्था (Permanent Zamindari Settlement)

ज़मींदारी व्यवस्था अंग्रेज़ों की देन थी। इस में कई आर्थिक उद्देश्य निहित थे। इस पद्धति को जागीरदारी मालगुज़ारी, बीसवेदारी इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से जाना जाता था। इसके अंतर्गत राज्यों की मांग सदैव के लिये निश्चित कर दी जाती थी। अन्य पद्धतियों में 10 वर्ष से 40 वर्ष के पश्चात भूमि कर में परिवर्तन किये जाते थे।

ज़मींदारी पद्धति के अनुसार ज़मींदार भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया जात था। वह भूमि को बेच, रेहन, अथवा दान में दे सकता था। राज्य भूमि कर देने के लिये केवल ज़मीनदार कों ही उत्तरदायी समझता था तथा उसके कर न देने पर उसकी भूमि ज़ब्त की जा सकती थी।

भूमि कर की मांग बहुत ऊँची निश्चित की गयी। उदाहरण के लिये बंगाल में यह भाटक (Rent) का 89 प्रतिशत निश्चित की गयी

---

[9] वी एल ग्रोवर आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० 160

अर्थात ज़ीनदार के पास 11 प्रतिशत बच जाता था। जॉन शोर ने 1762–65 के चार वर्षों के आंकड़े इस प्रकार दिये हैं [10]:-

शासनकाल	वर्ष	वास्तविक संग्रहण
मीर क़ासिम का प्रशासन	1762–63	£ 6.46 लाख
मीर जाफर का प्रशासन	1763–64	£ 7.62 लाख
मीर जाफर का प्रशासन	1764–65	£ 8.17 लाख
कम्पनी की दिवानी का प्रथम वर्ष	1765–66	£ 14 70 लाख
स्थायी व्यवस्था से पूर्व	1790–1791	£ 26.80 लाख

इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि कम्पनी के दीवानी के प्रथम वर्ष में ही उस से पूर्व वर्ष की अपेक्षा लगभग 80 प्रतिशत अधिक भूमिकर एकत्रित किया गया था। 1790–91 तक यह मात्रा 26.8 £ लाख थी जो 1765–66 से लगभग 2 गुना थी।

बंदोबस्त उपज के तीन भागीदार बताये गये: 1– सरकार 2– बिचौलिए या ज़मीनदार, और 3– कृषक या काश्तकार। उन में पहले दो भागीदारों की स्थिति निश्चित कर दी गयी और भूमि की उपज मे सरकार का भाग सदा के लिये निश्चित कर दिया गया। उस से सरकार को आशा के अनूरूप ही अधिकतम लाभ हुआ। जहां इस व्यवस्था के आर्थिक प्क्ष का सम्बंध था इस के अनुसार इतना अधिक भू राजस्व निर्धारित किया गया कि पहले कभी नहीं हुआ था। भूमि के अनुमानित लगान में से जो लगभग पौने चार करोड़ अनुमानित था

[10] वही

सरकार का 89 प्रतिशत भाग रखा गया और केवल 11 प्रतिशत ही ज़मींदारों के पास राजस्व संग्रह से सम्बद्ध कार्यों के लिये रखा गया।[11]

इस तरह कम्पनी हमेशा के लिये लगान से होने वाली आय से निश्चिंत हो गयी और प्रशासनिक तथा वाणिज्यिक आवश्यक्ताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त आय सुनिश्चित हो गयी। काश्तकारों द्वारा भुगतान किये जाने वाले लगान कों अनिश्चित छोड़ दिया गया जिसके परिणामस्वरूप किसानों के असीमित शोषण का दौर शुरू हुआ। इस व्यवस्था के अंतर्गत सरकार उन ज़मींदारों को बेदख़ल कर सकती थी जो निश्चित समय तक लगान न जमा करवा पायें। यहां तक कि यदि कोई लगान का कुछ भाग जमा करवा पाने में असमर्थ रहे तो उसकी ज़मीन छीन ली जा सकती थी।

रैयतवाड़ी पद्धति
(The Ryotwari System)

स्थायी बंदोबस्त या जमीनदारी प्रथा से जो आशाऐं की गयी थीं वे पूरी न हो सकीं। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक पंजीकृत भूमिदार को भूमि का स्वामी स्वीकार किया गया। वही राज्य सरकार को भूमि कर देने के लिये उत्तर दायी था। उसे अपनी भूमि का अनुभाटकन (sublet) गिरवी रखने तथा बेचने की अनुमति थी। वह अपनी भूमि से उस समय तक वंचित नहीं किया जा सकता था जब तक वह समय पर भूमि कर देता रहे।[12]

---

[11] ताराचंद भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास, पृ० 285
[12] बी एल ग्रोवर, आधुनिक भरत का इतिहास, पृ० 162

मद्रास प्रेसीडेंसी में प्रथम भूमि व्यवस्था बारा महल ज़िला प्राप्त करने के पश्चात 1792 में की गयी। कैप्टन रीड ने टामस मुनरो की सहायता से खेत की अनुमानित आय का लगभग आधा भाग भूमि कर के रूप में निश्चित किया। यह तो पूरे आर्थिक भाटक (Economic Rent) से भी अधिक थी। यही व्यवस्था अन्य भागों मे भी लागू कर दी गयी। टामस मुनरो ने इस व्यवस्था को अनुचित माना। उन्होंने कुल उपज का तीसरा भाग भूमिकर का तीसरा भाग भूमिकर आधार मानकर रैयतवाड़ी पद्धति को, स्थायी भूमि व्यवस्था के प्रदेशों को छोड़ कर, शेष प्रांतों मे लागू करदिया। दूसरे भूमिकर, क्योंकि धन के रूप में देना पड़ता था तथा इसका वास्तविक उपज अथवा मण्डी में प्रचलित भावों से कोई सम्बंध नहीं था। इसलिये कृषक पर अत्यधिक बोझ पड़ा।

मुनरो की भूमिकर व्यवस्था लगभग तीस वर्ष तक चलती रही तथा इसी से विस्तृत उत्पीड़न तथा कृषकों की कठिनाईयां उत्पन्न हुईं। कृषक लोग भूमिकर देने के लिये चेट्टियों (साहूकारो) के पंजों में फंस गये। भूमिकर संग्रहण करने के प्रबंध बहुत कड़े थे और इस के लिये प्रायः यातनाएं दी जाती थीं। 1855 में कुल उपज का 30 प्रतिशत के आधार पर, विस्तृत सर्वेक्षण तथा भूव्यवस्था की योजना लागू की गयी। वास्तविक कार्य 1861 में आरम्भ हुआ। 1864 के नियमों के अनुसार राज्य सरकार का भाग भू भाटक का 50 प्रतिशत निश्चित किया गया परन्तु वह नियम केवल कागज़ी कार्यवाही ही रहा तथा प्रशासन का अंग नहीं बना।[13] बम्बई में रैयतवाड़ी पद्धति लागू की गयी ताकि ज़मींदार अथवा ग्राम सभाएं उनके लाभ को स्वयं न हड़प कर जायें।

---

[13] बी एल ग्रोवर, आधुनिक भरत का इतिहास, पृ० 162

पुनः भूव्यवस्था का काम 30 वर्षों के पश्चात 1868 में किया गया अमेरिका के गृहयुद्ध "1861–65" के कारण कपास के मूल्य बहुत बढ़ गये। इस अस्थायी अभिवृद्धि के कारण सर्वेक्षण अधिकारियों को भूमिकर 66 प्रतिशत से 100 प्रतिशत तक बढ़ाने का अधिकार मिल गया। कृषकों को न्यायालय में अपील करने का अधिकार नही था।

इस कठोरता के कारण दकन में 1875 में कृषि उपद्रव हुए जिससे प्रेरित होकर सरकार ने 1879 में दक्कन राहत अधिनियम (Daccan Agriculturists Relief Act 1879) पारित किया जिस से कृषको को साहूकारों के विरूद्ध संरक्षण प्रदान किया गया। परन्तु सब कष्टों के मूल अर्थात सरकार की अधिक भूमिकर की मांग के विषय में कुछ नहीं किया गया।

बम्बई में रैयतवाड़ी पद्धति के दो दोष थे- अत्यधिक भूमिकर तथा उसकी अनिश्चितता। इसमें अधिक भूमिकर के लिये न्यायालय में अपील करने की अनुमति नहीं थी। कलक्टर को अधिकार था कि वह कृषक के भविष्य के लिये भूमिकर की दर बता दे और उस से यह भी कहदे कि उसे यह नयी दर स्वीकार नहीं तो वह भूमि छोंड़ दे।[14]

महालवाड़ी व्यवस्था
(The Mahalwari System)

महालवाड़ी व्यवस्था को दकन के कुछ जिलों, उत्तर भारत जैसे संयुक्त प्रांत, आगरा, अवध, मध्य प्रांत, तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में लागू किया गया। इस में ज़मीनों के मालिक पूरे गाँव की ओर से सरकार के साथ समझौता करते थे, व्यक्तिगत रूप से नहीं। गाँव की

[14] वही पृ० 163

बिरादरी अपने मुखियों या प्रतिनिधियों के माध्यम से निश्चित अवधि तक रकम चुकाये जाने का भार अपने उपर ले लेती थी और फिर सारी देनदारी आपस में बांट कर सबके अंश निर्धारित किये जाते थे। इस व्यवस्था में मुख्यतया प्रत्येक व्यक्ति खेती करके अपने लिये ही निर्धारित रकम चुकाता था, पर अंततः वह अपने साथियों के अंश के लिये और वे सब उसके अंश के लिये उत्तरदायी होते थे। इस प्रकार वे सब एक सम्मिलित दायित्व के सूत्र में बंधे रहते थे। इस व्यवस्था को ब्रिटिश भारत के कुल 30 प्रतिशत भाग पर लागू किया गया।

ब्रिटिश भू राजस्व व्यवस्था के बड़े दूरगामी परिणाम निकले। उन्होंने पूर्व प्रचलित मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं को तोड़कर, अर्थ व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन में बुनियादी परिवर्तन किया और पुरानी ग्रामीण आत्मनिर्भरता की स्थिति को समाप्त कर दिया।

नयी कृषि व्यवस्था ने भारत की सदियों पुरानी व्यवस्था को तोड़ कर नयी साम्राज्यवादी व पूँजीवादी शक्ति के लिये शोषण के द्वार खोल दिये। इसके लिये गाँव अब कर-निर्धारण और भुगतान की इकाई नहीं रह गये थे। ज़मीन की निजी मिल्कियत के साथ-साथ व्यक्तिगत कर निर्धारण और कर अदायगी की प्रथा शुरू हुई। पहले जहां लगान खड़ी फसल का एक भाग होता था और इसकी राशि हर साल अलग हो सकती थी वहां नयी व्यवस्था के अंतर्गत लगान का आधार फसल न रहकर भूमि का टुकड़ा हो गयी थी। फसल अच्छी हो या बुरी 'कर' की निश्चित राशि में कोई परिवर्तन नहीं होता था। आर्थिक दृष्टि से इन व्यवस्थाओं ने सभी वर्गो (ज़मींदारों से लेकर रैयत तक) को प्रभावित किया। रैयत और जमीनदार के बीच लगान का निर्धारण एक आपसी बात मानकर छोड़ दिया गया था। इसमें कोई शक नहीं कि सब

भुगतानों के बाद किसान के पास जो कुछ बच रहता था उससे वह जिन्दा भर रह सकता था।[15]

भूमि पर निजी मिलकियत का सिद्धान्त लागू करके ब्रिटिश शासकों ने भारत में एक भारी क्रान्ति कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि विपत्ति के समय चाहे जमीदार का कर चुकाना हो, या घर की आवश्यकता पूरी करनी हो भूमि को दाँव पर लगा दिया जाता था। फलतः भूमि के दाम बढ़ने लगे। नये कानूनों के अन्तर्गत बेदख़ली के अधिकार साहूकार या सरकार को प्रदान करने के कारण भूमि की बेदख़ली बड़े पैमाने पर होने लगी। इस तरह किसान, जोकि पहले भूस्वामी था धीरे-धीरे दूसरे की जमीन बेचने वाला मजदूर बनता चला गया।

नयी लगान व्यवस्था ने भारतीय ग्रामीण सामाजिक सम्बन्धों पर भी गहरा प्रभाव डाला। ब्रिटिश कानून संहिता तथा ब्रिटिश आर्थिक व्यवस्था ने सामाजिक व जातीय सम्बन्धों को तोड़ डाला और नये सामाजिक व आर्थिक वर्गो को जन्म दिया। इस नयी व्यवस्था के परिणाम स्वरूप जो वर्ग उभर कर सामने आये वे इस प्रकार थेः-

1—जमीनदार वर्ग (मुगलकालीन)
2—ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया नव-निर्मित जमीदार वर्ग
3—गैर काश्तकार जमीनदार वर्ग (जिसने भूमि को एक निवेश के रूप में लिया और जो कि प्रायः शहरों में रहता था)।
4—पट्टेदार वर्ग
5—काश्तकार जमीनदार वर्ग (रैयतवारी द्वारा बनाया)
6—छोटे काश्तकार किसान वर्ग
7—खेतिहर मजदूर वर्ग
8—सूदखोर महाजन वर्ग

[15] J.W. Kai, **The Administration of East India Company**, p. 198

गये निवेश व भूमि-सुधार से कृषि उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गये, भारत में जमीनदार वर्ग अपनी इस भूमिका को भूलकर अपने स्वार्थों की ही पूर्ति करने में लगा रहा। भारतीय जमीनदार वर्ग इस प्रकार निकम्मा, विलासी व क्रूर बनता गया और दूसरे के खून पर पलने वाला एक जोंक बन गया। अपने स्वार्थ हेतु यह वर्ग प्रायः ब्रिटिश साकार का शुभचिन्तक रहा जिसने प्रत्येक ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को दबाने में सरकार का साथ दिया। इतना ही नही, राष्ट्रीय आन्दोलन को भीतर से तोड़ने की इस वर्ग द्वारा चेष्टा की जाती रही।

जहां स्थायी बंदोबस्त ने जमीनदारी व्यवस्था को जन्म दिया वहां रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था ने छोटे काश्तकार जमीनदार वर्ग तथा लगान उगाहने वाले गैर काश्तकार वर्ग को और पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने साहूकार महाजन वर्ग, व्यापारी वर्ग, वाणिज्यिक वर्ग आदि को उभारा। ये लोग कृषक और मण्डी के बीच काम करते थे। वास्तव में ये ही वे वर्ग थे जो कि ग्रामीण आत्मनिर्भरता को समाप्त कर भारत में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के आधार बने।

ग्रामीण ऋणग्रस्तता की स्थिति इतनी भंयकर थी कि सर डेनियल हैमिल्टन ने कहा कि-

> '" पूरा देश ही महाजनों के चंगुल में फंसा हुआ है। कर्ज की बेड़ियों से सम्पूर्ण कृषि-व्यवस्था जकड़ी हुई है। यह सूदखोरी है जो सार्वजनिक कुत्सित, सर्वाधिक खसोटने वाली तथा सबसे ज्यादा सूदखोरी है, जो किसान की अस्थि-मज्जा तक खा जाती है और उसे दरिद्रता और गुलामी का अभिशप्त जीवन जीने के लिए छोड़ देती है। ऐसी स्थिति में न केवल

> आर्थिक उत्पादन की स्थिति ही निराशाजनक हो जाती है, अपितु जिससे ऋणग्रस्त व्यक्ति शक्तिहीन और पंगु बन जाता है। अंततः वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसे आशा की कोई किरण नही दिखाई देती है और वह ऐसा थका-हारा तथा अनुपयोगी जीवन जीता है मानो उसकी जिन्दगी का कोई उद्देश्य ही न रह गया हो। इस सत्य को नकराने का कोई लाभ नही है, यह सभी जानते हैं।"[16]

रेलवे यातायात तथा संचार-साधनों के विकास से इस व्यापारी वर्ग के लाभांस में और भी अधिक वृद्धि हुई जिससे बड़े व्यापारी वर्ग ने शहरों में पूंजीपति वर्ग अथवा बुर्जुआजी का जन्म हुआ। उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था नई शिक्षा प्रणाली जटिल प्रशासनिक व्यवस्था ने नये पेशेवर वर्गा को जन्म दिया जो कि कुछ सीमा तक इसी पूँजीपति वर्ग से ही पैदा हुए।

ब्रिटिश कृषि-नीति, आर्थिक नीति व लगान-प्रणाली के परिणामस्वरूप छोटे किसानों की जमीन धीरे-धीरे उनके हाथों से खिसकने लगी जिसकी वजह से भारतीय किसान अब खेतिहर मजदूर में परिणत होने लगा। जैसा कि नीचे आंकड़ो से स्पष्ट है, खेतिहर मजदूरों की संख्या दिनों दिन बढ़ती गयी :- [17]

---

[16] बी. के. आग्निहोत्री भारतीय इतिहास से उद्धृत पृ. सं. 84

[17] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद पृष्ठ 57

	1921 (लाखों में)	1951 (लाखों में)
गैर-काश्तकार जमीनदार	3.7	4 1
काश्तकार 'मालिक या बटाईदार'	74.6	65.5
खेतिहर मजदूर	21.7	63.3

विशेषज्ञों का अनुमान है कि यह वर्ग इतना बड़ा होता गया कि सारी खेतिहर आबादी के लगभग आधे लोग इसी वर्ग के हो गये। कृषि-व्यवस्था के दुष्परिणामों से एक और वर्ग सामने आया जिसे कृषिदास के नाम से पुकार जाता है। आर्थिक दासता किस हद तक पहुँच गयी और साहूकार की पकड़ कितनी मजबूत थी, इसका उदाहरण बिहार और उड़ीसा में प्रचलित 'कमिऔटी' नामक प्रथा थी। यह व्यवहारतः कृषि दासों द्वारा खेती कराने की प्रथा थी।

साम्राज्यवादियों की कृषि नीति ने केवल उन नये सामाजिक-आर्थिक वर्गो को ही जन्म नही दिया बल्कि उनकी आर्थिक स्थितियाँ को अपने हितों के अनुरूप भी ढ़ाला। अंग्रेजों के आने से पहले भारत में जहां कृषि-उत्पादन में आत्मनिर्भरता थी वहां अंग्रेजों के आने के बाद कृषि उत्पादन में काफी गिरावट आयी। इस गिरावट के लिए उनकी कृषि-नीति एवं औद्योगिक नीति दोनों ही उत्तरदायी थीं। 1813 तक ब्रिटिश कम्पनी ने व्यापारिक क्षेत्र में एकाधिकार अपनाया। परिणामस्वरूप बहुत से राजशिल्पी कारीगर बेकार हो गये और वे शहरों को छोड़कर गॉवों की तरफ जाने को मजबूर हुए जहां उन्होने कृषि को जीविकोपार्जन का साधन बनाया। उसके साथ ही कृषि का

विभाजन और उप-विभाजन शुरू हुआ। खेती पर बढ़ते बोझ का आभास इन आंकड़ो से स्पष्ट हो जायेगा।[18]

खेती पर निर्भर आबादी (प्रतिशत मे)

1881	61.1
1901	65 2
1911	72.2
1921	73.0
1931	75 0

जहां भारत में खेती पर निर्भर करने वालों की संख्या बढ़ रही थी, वहां यूरोप में इसका उल्टा ही हुआ। फ्रांस में 1876–1927 के बीच खेतिहरों की आबादी 67.7 प्रतिशत से घट कर 53.6 प्रतिशतः जर्मनी में 1875–1919 के बीच 61 प्रतिशत से घटकर 20.7 प्रतिशत और डेनमार्क में भी 1880–1982 के बीच 71 प्रतिशत से घटकर 57 प्रतिशत होगयी।भूमि पर आश्रित लोगो की संख्या बढ़ने के कारण उत्पादन में भारी गिरावट आना स्वाभााविक ही था। बंगाल राज्य बैंकिग जांच समिति की रिपोर्ट में बंगाल की प्रति एकड़ औसत उपज (पौण्ड) में इस प्रकार दी गयी–:

वर्ष	गेंहूं	चावल	चना	सरसों और तिलहन
1906–07	801	1234	881	492
1911–12	861	983	881	492
1916–17	698	1036	867	460
1921–22	721	1029	827	485
1926–27	721	1022	811	483

[18] **Bengal Provincial Banking Enquiry Committee** 1930, p.21

साम्राज्यवादियों ने खेती की गिरावट के लिए भारतीय कृषि भूमि और कृषक को उत्तरदायी ठहराया। लेकिन वास्तव में कृषि-उत्पादन की कमी का कारण, जैसा कि सर जार्ज कार ने 1894 में कहा था, अनुर्वरता नही था। ''यदि अवकिसित साधनों के मूल्य और विस्तार को देखा जाये तो संसार के बहुत कम देशों में खेती इतने शानदार ढंग से विकास की क्षमता है जैसे कि भारत में है। भारत की मिट्टी कम उपजाउ नही थी लेकिन उपनिवेशवादियों ने इसे ऐसा बना दिया। यहां की उपत्यकाएं एक जमाने में दुनिया की सबसे उर्वर प्रदेश रही होगी।''[19] अग्रेंज़ शासकों ने अपनी नीतियों पर पर्दा डालनें के लिये सदा कृषक को दोषी माना। किसी भी देश की कृषि तब तक उन्नति नहीं कर सकती जब तक उसे सरकार की मदद न मिले। लेकिन साम्राज्यवादियो नें अपने आर्थिक हितों के कारण अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये की पूर्ण लापरवाही बरती। किसानों की मदद के रूप में अच्छे बीज जुटाने, तकनीकी विधियों को अपनाने तथा नहर खुदवाने के बजाय सरकार रलवे, अच्छी सड़कें, यातायात के साधनों को सुधारने में अधिक व्यस्त रही जिस से वह अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा कर सकें। 1900–1901 रेलवे के विस्तार पर 8.37 करोड़ रू० खर्च किये गये जब कि इसी अवधि में सिंचाई पर केवल 2. 41 करोड़ रू० खर्च कियें गये। 1913–14 में रेलवे पर 23.06 करोड़ रू० खर्च किये गये जब कि सिंचाई पर केवल 4.84करोड़ रू० खर्च किये गये।

सिंचाई के क्षेत्र में बरती गयी लापरवाही के कारण कृषि योग्य भूमि में कमी होने लगी। 1930 में अर्थशास्त्रियों के अनुमान

---

[19] **Indian Central Banking Enquiry** Committee Report, Enclosure-13, p. 700

के अनुसार भारत में खेती लायक भूमि के लगभग 70 प्रतिशत पर खेती नहीं हो रही थी। 1939–40 के सरकारी आंकड़े के अनुसार कुल 5127 करोड़ एकड़ भूमि में से 2099 करोड़ एकड़ भूमि पर फसल बोई गयी। कृषि साधनों तथा उपकरणों के क्षेत्र में होरही तकनीकि उन्नति के समय भी, जब कि इंग्लैण्ड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया में शक्तिशाली कृषक व्यापार संघ खेती या बड़ी जागीरों पर आधुनिक मशीनों की मदद से खेती करने वाले समृद्ध पूँजीवादी किसान दुनिया के बाज़ार में होड़ ले रहे थे, उस समय भारतीय किसान अपनी पूँजीविहीन व्यवस्था में पुराने कृषि उपकरणों, हल बैल और छोटी कृषि उपकरणों के साथ औपनिवेशिक भूमि व्यवस्था का पोषक बना हुआ था।

स्थायी बन्दोबदस्त के अंतर्गत बंगाल के कुछ इलाकों को छोड़ कर (जहां लगान स्थायी तौर पर निश्चित कर दिया था) बाकी भारत में लगान वृद्धि का आधार सरकार ने अपने पास रखा। जैसे-जैसे ब्रिटिश सत्ता का विस्तार हुआ और सरकार का खर्च बढ़ा वैसे ही लगान के दर मे भी वृद्धि होती गयी। 1765–66 में 1470000 पौंण्ड लगान के रूप में एकत्र किये गये। यह राशि 1764–65 में कम्पनी से पहले के काल में इकट्ठा की गयी राशि (जो 818000 पौण्ड थी) की दुगुनी थी। एक बार यह क्रम शुरू होने के बाद चलता ही गया जिसका विवरण इस प्रकार है :–[20]

---

[20] सत्या राय, भारत में उपनीवेश्वाद एंव राष्ट्रवाद, पृ० 61–62

वर्ष	राशि "पौंड में"
1765–66	14,70,000
1771–72	2,34,194
1772–77	25,77,078 वार्षिक
1790–91	26,80,000
1799–1800	10,00,00,000
1801–02	1,24,00,000
1825–1826	24,20,000
1855–1856	1,60,00,000
1865–1857	3,60,00,000

भारी लगान व साहूकार की मनमानी के कारण किसान ऋणग्रस्तता में धंसता ही चला गया और उसके दुखों का बोझ बढ़ता ही गया क्योंकि यह ऋणग्रस्तता ही थी जिसके कारण उसकी ज़मीन उसके हाथों से खिसकती जारही थी। सरकार की तरफ किसान से साहूकार की दशा में इस हस्तांतरण को रोकने के लिये कुछ कानूनों का भी निर्माण किया गया, जैसे बंगाल काश्तकारी अधिनियम–1859" (Bengal Tenancy Act 1859) मद्रास काश्तकारी अधिनियम 1859 (Madras Tenancy Act-1889), दक्कन कृषि सहायता अधिनियम (Daccan Agriculture Relief Act) जो आगे चलकर बम्बई प्रेसीडेंसी पर भी लागू किया गया। मध्यप्रदेश काश्तकारी अधिनियम, 1898 (Central Province Tenancy Act-1898) आदि। लेकिन ये

अधिनियम अधिक सफल नहीं हुए और किसान की स्थिति में किसी प्रकार का सुधार लाने में असमर्थ रहे।

कृषि पर बढ़ते दबाव व साहूकार की पकड़ के कारण ज़मीन के उप विभाजन और विखण्डन की प्रक्रिया भी तेज़ हुई। एग्रीकल्चरल जर्नल ऑफ इण्डिया 1926 में प्रकाशित जोतों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है।[21] 10 एकड़ से ऊपर 24 प्रतिशत, 5 से 10 एकड 20 प्रतिशत, एक से 5 एकड 33 प्रतिशत, एक एकड़ या उससे कम 23 प्रतिशत। जोतों के विखण्डन के कारण किसानों के सुचारू रूप से खेती करना भी कठिन था। उपविभाजन की हालत यह थी कि अनेक छोटे खेतों में हल का प्रयोग सम्भव नहीं था। जोतों के अधिकाधिक विखण्डीकरण के कारण खेतिहर मज़दूरों की तादाद बढ़ती गयी और खेती में कुदाल और फावड़े का अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगा।[22] कृषक व कृषि की दुर्गति करने के लिये केवल औपनिवेशिक सरकार की कृषि नीति ही नहीं वरन् औधोगिक नीति भी ज़िम्मेदार थी। 1813 के बाद भारत में व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया और मुक्त व्यापार की अनुमति अपनायी गयी। अब भारत केवल एक पूँजीवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाला देश ही नहीं था वरन् ब्रिटिश पूँजीवादियों के लिये एक मण्डी भी बन गया था। जिसके कारण यहां कुटीर उद्योग नष्ट हुआ।

नयी प्रणाली के अंतर्गत किसान मुख्यतः बाज़ार के उत्पादन करने लगे जिसके लिये ब्रिटिश शासन के अन्तगर्त परिवहन के निरन्तर विकसित हो रहे साधनो तथा व्यवसायिक पूंजी लगाने के लिये अधिक अवसर उप्लब्ध होने लगे। वे ऐसा मुख्यतः अधिकतर नकद धन प्राप्त

---

[21] सत्या राय, भारत में उपनीवेश्वाद एंव राष्ट्रवाद, पृ० 61–62

[22] **Agriculture Journal of India** (1926)

करने के उद्देश्य से करते रहे। जिस से वह ऊंचे दरों पर निर्धारित भू-राजस्व की रकम को राज्य को अदा कर सकें और महाजनों के दावे को पूरा कर सकें, जिनके चंगुल में वे अनेक कारणों से फंसे हुए थे।

इससे एक नयी व्यवस्था उभर कर सामने आयी जिसे कृषि के व्यवसायीकरण के रूप मे जाना जाता है। इस के परिणमस्वरूप किसान भी कुछ खास फसल उगाने लगे। इस प्रकार ग्राम समूहों में भूमि की उपयुक्तता के आधार पर कुछ विशेष व्यवसायिक फसलें जैसे गन्ना, तिलहन, नील, अफीम, कपास, पटसन, गेहूँ, जैसी फसलें उगायी जाने लगी।[23]

अब किसान भारतीय तथा विश्व बाज़ारों के लिये उत्पादन करने लगे। इस से उन पर हमेशा अनिश्चित रहने वाला बाज़ार के सभी दबावों का प्रभाव पड़ने लगा। उन्हें अमेरिका, युरोप, और आस्ट्रेलिया के विशाल कृषि न्यासों जैसे दुर्जेय अंतर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंदियों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती थी। ये देश बड़े पैमाने पर ट्रैक्ट्रों और अन्य आधुनिक यंत्रों की सहायता से उत्पादन करते थे, जब कि भारतीय किसान स्वंय ज़मीन के छोटे छोटे टुकड़ों पर दो भूखे बैलों और प्राचीन किस्म के हल की मदद से उत्पादन करते थे। इस के इलावा वे कृषि के व्यवसायीकरण के कारण अपने उत्पाद की बिक्री के लिये बिचौलिओं अर्थात व्यापारियों पर निर्भर हो गये व्यापारियों ने अपनी बेहतर आर्थिक स्थिति से किसानों की निर्धनता का पूरा लाभ उठाया। गरीब किसानों को अपनी उत्पाद फसल कटाई के ठोक बाद बिचौलियों को बेचने पड़ते थे क्योंकि उनके पास कोई आर्थिक बचत

---

[23] V.K. Agnihotri, **Indian History**, p.85

नहीं होती थी और सरकार के भू-राजस्व दावों तथा साथ ही सूदखोरों के बढ़ते दावों का सामना करने के कारण उनके सम्मुख अन्य कोई विकल्प नहीं था। बहुत जरूरत मन्द होने के कारण उन्हें फसल कटाई के बाद ही अपना उत्पाद बेचना पड़ता था। मजबूरी में किए इन सौदों के कारण उन्हें अपनी उपज का पर्याप्त मूल्य भी नही प्राप्त हो पाता था। यदि वे कुछ प्रतीक्षा करके बेचते थे तो उन्हें अधिक धन प्राप्त हो सकता था। इस प्रकार बिचौलिए लाभ का एक बहुत बड़ा हिंसा हड़प जाते थे।

अधिकांश भारतीय लोग सामान्य जीवन-यापन स्तर से काफी नीचे रह रहे थ और बाढ़ आने अथवा आकाल पड़ने पर बड़ी संख्या में लोग काल के ग्रास हो जाते थे। एक अनुमान के अनुसार, ''सन् 1854 से 1901 के बीच लगभग 24 बार अकाल पड़े, जिनसे लगभग 290 लाख लोग मारे गये। बीसवीं सदी में भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। 1943 में बंगाल में पड़े भीषण अकाल में 30 लाख लोगों की जाने गयी इन अकालों से यह स्पष्ट हो गया कि गरीबी, लम्बे समय से चली आ रही भुखमरी, अल्प जीवन दर और अत्यधिक बाल मृत्यु की जड़ें भारत में गहरी जम चुकी थी। भारत में पड़ने वाले अकालों का सबसे बुरा दुष्परिणाम यह था कि लोगों की बड़ी संख्या में हुई मौतें सूखा, बाढ़, फसलों के नष्ट होने और देश में खाद्यान्न की अनुपलब्धता के कारण नहीं हुई, बल्कि मुख्यतः लोगों की अल्पक्रयशक्ति के कारण हुई।[24]

इन दुखों के बावजूद ब्रिटिश कृषि-नीति ने भारतीय गॉव को भारतीय अर्थव्यवस्था की एक इकाई बना दिया। बढ़ती हुई आर्थिक

---

[24] डिग्बी, विलियम प्रासपेरस ब्रिटिश इन्डिया, नयी दिल्ली, 1969
[25] सत्या राम, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद, पृ० 64

परेशानियों व यातायात में सुधार के कारण गाँव-गाँव और गाँव-शहर परस्पर समीप आ गये। उनमें आपसी सहयोग की स्थापना हुई। इस सहयोग से राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ जिसने किसान को शोषणकारियों के विरूद्ध विद्रोह के लिए उकसाया। यही कारण है कि जैसे-जैसे पूंजीवादी व्यवस्था मजबूत हुई, वैसे-वैसे किसान विद्रोह भी हुए। 1870 में बंगाल के बंटाईदारों के आर्थिक संकट बढ़ने के कारण उन्होनें लगान देने से इन्कार कर दिया। इसी समय सन्थालों ने भी विद्रोह कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप आगे चलकर 1885 में बंगाल काश्तकारी अधिनियम (Bengal Tenancy Act) पास किया गया।[25]

1857 में दक्कन में मराठा किसानों ने साहूकारों के विरूद्ध बगावत की, जिसके परिणामस्वरूप 1879 में दक्कन काश्तकारी सहायता अधिनियम (Daccan Agricultural Relief Act) पास किया गया। 20वीं शताब्दी के शुरू में पंजाब में साहूकारों तथा बेदखली के विरूद्ध के किसानों ने विद्रोह किया। 1917–18 में चम्पारन में नील की खेती कराने वाले अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह हुआ। 1922 में मोपला विद्रोह साम्प्रदायिक व आर्थिक दोनों कारणों से हुआ। इस तरह आर्थिक दुर्दशा के कारण किसानों ने शोषणकारी सरकार का संगठित रूप में विरोध करने के लिए 1936 में अखिल भारतीय किसान कांग्रेस का निर्माण किया।

यह सच है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने यद्यपि अपने हितों से प्रेरित होकर भारत को प्राचीन सामांतवादी व्यवस्था से निकाल कर आधुनिक भौतिकवादी, पूँजीवादी व्यवस्था में रूपांतरित किया। जिसकी वजह से :

(क)- गाँव और शहर में परस्पर निर्भरता व सहयोग पैदा हुआ जो राष्ट्रीय आन्दोलन को चलाने में सहायक सिद्ध हुआ।

(ख) ब्रिटिश शोषणकारी नीति किसान को भाग्यवादिता से उबारकर उसमें परिस्थितियों का सामना करने की भावना पैदा की जिसका प्रमाण संथालों का विद्रोह '1857' दक्कन विद्रोह '1875' और 20 वीं शताब्दी में किसान आन्दोलन की शुरूआत से मिलता है;

(ग) राष्ट्रीय आन्दोलन के शुरूआत में भी मुख्यतया आर्थिक दुर्दशा का ही सर्वाधिक हाथ था।[26]

---

[26] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद, पृ० 65–66

ब्रिटिश उपनिवेशवाद का उद्योग वित्त और व्यापार पर प्रभाव

भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के महत्वपूर्ण परिणामों में से एक यह था कि भारतीय हस्त कलाओं और ग्रामीण हस्त शिल्प उद्योगों के विध्वंस से कृषि और उद्योग का सदियों पुराना समन्वय छिन्न-भिन्न हो गया। अट्ठारहवीं शताब्दी तक भारत की आर्थिक दशा अन्य देशों की तुलना में उन्नत थी और भारतीय उत्पादन-विधियों तथा उसके व्यापारिक और औद्योगिक संगठनों की तुलना विश्व के किसी भी अन्य देश में प्रचलित इस प्रकार की विधियों और संगठनों से की जासकती थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत से स्वदेशी उद्योग, धन्धे या तो नष्ट प्राय हो चुके थे या फिर विनाश के पथ पर बढ़ते हुए अन्तिम सांसे ले रहे थे।

मार्क्स ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की व्याख्या करते हुए भारत के सन्दर्भ में लिखा है कि इसका दोहरा प्रभाव पड़ा। एक तो यह कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में सामान्यतः प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के विकास की संभावना नही होती परन्तु साम्राज्यवादी शासन ने ऐसा कर दिखया। दूसरे साम्राज्यवादी शासन ने भारतीय अर्थ व्यवस्था के विकास को ब्रिटिश पूँजीवादी वर्ग के हितों के अनुरूप कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि पूँजीवादी उत्पादन का विकास नियन्त्रित हो गया और साथ ही अधिक प्रतिस्पर्धात्मक उद्योगीकरण पर अंकुश लग गया। भारतीय अर्थ व्यवस्था के विकास को ब्रिटिश पूँजीवादी हितों के अनुरूप करने में सबसे महत्वपूर्ण तत्व औपनिवेशिक राज्य था।

औपनिवेशिक राज्य की आर्थिक नीति ने एक तरफ तो ब्रिटिश बुर्जुवा वर्ग के लिए पूँजीवादी उद्योगों को प्रोत्साहित किया और दूसरी तरफ भारतीय सामाजिक आर्थिक विकास को निरूत्साहित किया। सबसे पहले औपनिवेशिक राज्य ने विदेशी पूँजीवादी उद्योग को भारत पर लाद दिया। यह भी उसने विशेष रूप से आधुनिक उद्योगों के सन्दर्भ में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सीमित क्षेत्रों में किया। दूसरी बात जो अधिक महत्वपूर्ण है- यह हुई कि इन पूँजीवादी उद्योगों को लाद देने से भारत में पूंजीवादी का विकास नही हो सका।

भारत के पूँजीवादी विकास के तीन विभिन्न चरण हैं और प्रत्येक चरण के विकास में विदेशी और स्वदेशी पूँजी का अलग-अलग प्रभाव है।

पहला चरण- जिसका अन्त प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ से हुआ की मुख्य विशेषता यह थी कि इस काल में निर्यात किए जाने वाले ऐसे माल का उत्पादन हुआ जो राष्ट्र के लिए लाभदायक था, जैसे पटसन, चाय इत्यादि इसके साथ ही उस माल का भी उत्पादन हुआ जिसमें विदेशी प्रतियोगिता गंभीर नही थी जैसे मोटा कपड़ा। इस काल में युरोपीय प्रबन्ध एजेंटों को भारतीय प्रतिद्वन्दियों से मुठभेड़ नही करनी पड़ी क्योंकि निर्यात किये जाने वाले औद्योगिक सामान से भारत को लाभ कोई नही था। भारतीय पूँजी का मुख्यत्या व्यापारिक धन्धों में प्रयोग किया जा रहा था जैसे विदेशी सूती कपड़ों के टुकड़ों के निर्यात और वितरण में और दूसरे उत्पादित माल के व्यापार तथा बड़े युरोपीय निगमों को कच्चा माल देने में। भारतीय पूँजी का क्षेत्र उद्योग के बजाय सट्टेबाजी, वित्त का प्राचीन तरीको से उपयोग करना जैसे उधार देना

तथा धरेलू व्यापार था।[27] औद्योगिक क्रियाओं का भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्न स्थान था।

दूसरे चरण का प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के साथ हुआ। इस चरण की मुख्य विशेषता यह थी कि इस काल में उपभोक्ता वस्तुओं का घरेलु मंडी के लिए अधिक उत्पादन हुआ तथा उसी चरण में इन वस्तुओं का आयाता कम हुआ। इस काल में विदेशी पूँजी और स्वदेशी उद्योग में गहरा अन्तर्द्वनद था, क्योंकि विदेशी औपनिवेशिक नीति भारत में भारी उद्योगों की स्थापना के विरूद्ध थी।

तीसरे चरण का प्रारम्भ विदेशी शासन के अन्तिम दशक में हुआ था। इस काल में घरेलू मंडी के लिए भारी उद्योगों की स्थापना हुई परन्तु बाजार के समिति होने के कारण उत्पादित वस्तुओं की लागत पूँजी बहुत अधिक थी इस काल में उत्पादन में नई बाधाएं आयी क्योंकि उत्पादन के मूल तरीके उपलब्ध नहीं थे और आवश्यक प्रौद्योगिकी का आयात बहुत मंहगा था।

प्रथम चरणः-

ब्रिटेन में औद्योगिक वर्ग के उदय से कम्पनी के एकाधिकार का अन्त हो गया और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने एक नया मोड़ लिया। औपनिवेशिक राज्य ने ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग की एजेन्सी के रूप में ब्रिटिश पूंजीपतियों की सहायता करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास किया जिससे ब्रिटिश निजी पूँजी का भारत में निवेश हो सके।

भारत में रेलों का निर्माण दो निजी कम्पनियों द्वारा किया गया। इन कम्पनियों की लागत-पूँजी पर और पॉच प्रतिशत गारण्टी दी गयी

---

[27] Bipin Chandra. "*Reinterpretation of Nineteenth Century Indian Economic History*" in **Indian Economic and Social History**,March 1968 ,pp.64-68

रेलवे कम्पनियों के लाभ की गारन्टी देने की नीति के फलस्वरूप धन की लूट और बरबादी शुरू हुई।[28] ब्रिटेन ने रेलों के निर्माण में अधिक से अधिक धन लगाया। रेलों के विकास के परिणामस्वरूप-

क- ब्रिटिश सेना की सहायता से भारत राजनीतिक रूप से अधीनस्थ कर लिया गया;

ख- भारतीय खाद्य वस्तुएं और कच्चा माल इंग्लैण्ड पहुचाने के लिए बन्दरगाहों तक आसानी से पहुँचाया जाने लगा

ग- ब्रिटेन के औद्योगिक वर्ग के लिए एक विशाल मंडी उपलब्ध हुई जिससे भारत की धन-दौलत और जनसंख्या का शोषण बढ़ गया। रेलों की स्थापना से भारत का औद्योगिक विकास सम्भव न हो सका। जैसा कि बुकनन (Buchanan) ने लिखा है रेलों के निर्माण से भारत की सामग्री संसार भर के लिए उपलब्ध होने लगी और इससे स्पष्ट ही युरोपवासियों को भारत के लिए उत्पादन करने में सहायता मिली न कि भारत को अपने लिए उत्पादन करने में समर्थ बनाने मे।[29]

जब ब्रिटिश शासकों को ऐसा महसूस हुआ कि रेलों के निर्माण से भारत का औद्योगिक निर्माण हो रहा है तब उन्होंने शुल्क लगाकर एक ऐसी जटिल प्रणाली आरम्भ की जिससे माल बन्दरगाहों से देश के अन्दर सुगमता से पहुँच सके परन्तु आन्तरिक यातायात में बाधा पड़े।

ब्रिटिश पूँजी के निवेश से भारत की अर्थव्यवस्था का विरोधाभासी और एकांगी विकास हुआ। भारत में युरोपीय और ब्रिटिश पूँजीवाद की प्राथमिक रूचि, चाय, काफी और नील बागानों में थी। नील बागानों का

---

[28] Vasia Ansteey, **The Economic Development of India** (London 1949) p. 131

[29] D. Buchanan. **The Development of Capitalist Enteprises of Indian,** New York 1954, p. 179

कार्य गुलाम मजदूरों के जरिए किया जाता था। 1860 में नील आयोग ने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया,

> "रैयत ने पेशगी राशि चाहे अपनी इच्छा के विरूद्ध ली या खुशी से वह कभी भी इसके बाद स्वतन्त्र व्यक्ति न रहा।"

आयोग ने गाँव में प्रचलित कहावत का इस प्रकार उल्लेख किया,

> "अगर कोई नील के समझौते पर हस्ताक्षर कर देता है तो वह सात पीढ़ियों तक स्वतन्त्रत नही हो सकता।"[30]

बिहार,आसाम और उत्तर प्रदेश में गुलामों की ऐसी ही दशा थी। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप और बढ़ते हुए राष्ट्रवाद के कारण नील के बागानों में काम करने वाली रैयत को मुक्ति प्रापत हुई।

जिन अन्य बागानों को ब्रिटिश पूँजी ने प्रोत्साहित किया, वे चाय और काफी के बागान थे। ब्रिटिश भारत में कोई भी श्रमिक-कानून लागू न थे। इस वजह से श्रमिक वर्ग-जिसकी संख्या 1887 में 5,00,000 के लगभग थी- के शोषण की कोई सीमा नही थी।

श्रमिकों की नियुक्ति का तरीका धोखाधड़ी वाला था श्रमिकों के साथ झूठे वादे किए जाते थे पर जब वे एक बार बागानों में पहुँच जाते थे तो उन्हें कैदियों की भांति रखा जाता था। उनको ऐसे जंगलों में रखा जाता था, जहाँ कोई भी मनुष्य नही रहता था, खाद्य पदार्थ नही मिलते थे और जो भी कुछ श्रमिक घातक बीमारी अथवा मृत्यु तक के शिकार हो जाते थे। वे स्वयं भी बीमारी से पीड़ित होने के कारण उससे कहीं कम कमा पाते थे जितना की शायद वे घर में

---

[30] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद पृ० 70

रहकर कमा लेते थे।[31] चूँकि निर्यात करने के पहले कच्चे माल का शोधन करना आवश्यक होता था, इस कारण कुछ छोटे-छोटे उद्यमों का उदय हुआ, जैसे चावल की मिले, पैकिट बनाना, आटे की चक्कियां, रूई काटने और साफ करने की मिलें आदि। पर भारत से कच्चे माल और खनिज पदार्थो का निर्यात अधिकाधिक होता रहा।

कोयले के उद्यमों में ब्रिटिश पूँजी लगायी गयी। कोयले की खानों के विकास का रेलों के निर्माण से घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि उत्पादित कोयले का 1/3 भाग रेलों के चलाने में ही खर्च हो जाता था। 1843 में बंगाल कोल कम्पनी का जन्म हुआ जिसमें अधिकतर ब्रिटिश पूँजी के निवेश से कोयले की खानों का विकास हुआ। परन्तु इन खानों में प्राचीन मशीनों का प्रयोग किया जाता था क्योंकि ब्रिटिश पूँजीवाद सस्ते श्रम का शोषण करना चाहता था।

परन्तु इस तरीके से लगाई पूँजी से भी भारत में ऐच्छिक प्रतिक्रिया का जन्म हुआ। 1890 तक भारत में काफी संख्या में कारखाने थे जिनमें 3,00,000 श्रमिक काम में लगे हुए थे। 19 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में भारतीय बुर्जुआजी का जन्म हो गया था जो ब्रिटिश शोषण की विरोधी हो रही थी और अपने को अनेक तरीकों से स्थापित करना चाह रही थी अतः भारत के लिए मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुईः

> "जिस देश में लोहा और कोयला प्राप्त हो, वहां के परिवहन-तन्त्र में मशीनों के शुद्ध हो जाने के बाद उस देश द्वारा खुद मशीनों के निर्माण को रोका नहीं जा सकता। रेलवे की तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन औद्योगिक प्रक्रियाओं की जरूरत थी उन्हें लाये बगैर भारत जैसे देश में

---

[31] **The Royal Commission on Labour in India Report** ,p. 359

> रेल-तन्त्र का संचालन सुचारू रूप से संचालन संभव नही था। उद्योग की जिन शाखाओं का रेलवे से सीधा सम्बन्ध था उनमें भी मशीनरी के इस्तेमाल की जरूरत पड़ेगी। अतः रेलवे का प्रदुर्भाव भारत में आधुनिक उद्योगों के आगमन का पूर्व सूचक था।''

मार्क्स आगे लिखता है-

> ऐसा होना अनिवार्य है क्योंकि अंग्रेज यह स्वीकार करते है कि हिन्दू अपने आपको नये श्रमिक नियमों के अनुसार आसानी से अभ्यस्त कर लेते है और शीघ्र ही मशीनों की जानकारी ग्रहण कर लेते है। इसका प्रमाण हद तक इस बात से मिलता है कि वे सालों से मशीनों पर काम करने में लगे हुए थे।''

मिस्टर केम्पबेला जो ईस्ट इन्डिया कम्पनी के विरूद्ध थे स्वीकार करते है कि-

> ''भारत की अधिकांश जनता औद्योगिक कार्य क्षमता रखती थी, और वह पूँजी संग्रह करने के योग्य थी और गणित में उत्यन्त कुशल थी। उनकी बुद्धिमत्ता अद्वितीय थी।[32]

धीरे-धीरे सूती मिलों में भारतीय पूँजी ने अपना आधिपत्य जमा लिया। सर्वप्रथम सूती कपड़ों की मिल की नींव 1851 में बम्बई में डाली गयी। सूती मिलों का विकास पूर्णतया भारतीय पूँजी के द्वारा ही हुआ। बंबई के खरीदार जो अभी तक मद्धयस्थ व्यापारी के रूप में कार्य करने में और पैसा उधार देने में लगे हुए थे अपने धन को सूती कपड़े के मिलों में लगाना शुरू कर दिया-यह सोचकर कि इससे उनके

---

[32] Karl Marx, "*The Future Results of British Rule in India*" in Marx and Engles **On Colonialism** Moscow, p. 87

व्यापार को बढ़ावा मिलेगा। इस प्रकार नयी मिलों का निर्माण 19वीं शताब्दी के अन्त में अपने शिखर पर पहुँच गया परन्तु उसके बाद उसमें गिरावट आयी।

औपनिवेशिक राज्य द्वारा अपनायी गयी नीति के कारण सूती कपड़े के उद्योग को भारी धक्का लगा। रमेश चन्द्र के अनुसार-

> "जब प्रत्येक सभ्य सरकार घरेलू उत्पादकों को प्रोत्साहित करने में जुटी हुई थी, भारतीय सरकार ने निर्दयतापूर्वक सूती मिलों को लंका शायर के आदेश से दयनीय स्थिति में ला दिया। मोटे कपड़े के मामले में भी जिसके साथ लंकाशायर प्रतिस्पधर्दा नही कर सकता था, हानि पहुँचायी गयी। सूती कपड़े के उत्पादन में गिरावट आ गयी, मशीनों की मांग और मिलों के काम में कमी हुई औ सूती कपड़े का आयात बढ़ा।

जैसे-जैसे भारत और ब्रिटेन के बाजार में सूती कपड़े के लिए प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी वैसे-वैसे औपनिवेशिक राज्य ने भारतीय उद्योगों को और अधिक क्षति पहुँचाने का प्रयास किया और 1896 में भारत के सभी मिलों द्वारा बनाए गये कपड़े पर 3 $^{1/2}$ प्रतिशत की दर से चुंगी लगादी गयी। भारतीय मिलों के विरूद्ध इस भेदभाव की नीति ने भारतीयों में घृणा की भावना को तीव्रता से जागृत किया। प्रथम विश्व युद्ध तक केवल अहमदाबाद और बम्बई की कपड़ा मिलें थी जो मुख्यतया भारतीय पूंजी द्वारा हुई थी।[33]

1907 में टाटा आयरन और स्टील कम्पनी का निर्माण भारतीय पूँजी द्वारा हुआ था। 20 वीं शताब्दी के शुरू में पूँजीवाद के विकास में एक नीय धारा दिखाई दी जिसके फलस्वरूप उद्योगों, विशेषताया नये

---

[33] R.C. Dutta **The Economic History of British Rule in India** Victorian Age, London 1950,p. 375

शहरों के आस-पास बिजली से चलने वाले कारखानों को बढ़ावा मिला। 1910 के अन्त में टाटा हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर सप्लाई कम्पनी का पंजीकरण हुआ जो कि उपने ढंग की सबसे पहली कम्पनी थी।[34]

दूसरे क्षेत्र जिसमें राष्ट्रीय बुर्जुआजी का विकास हुआ वह जॉइंट स्टाक बैकों (Joint Stock Banks) का क्षेत्र था। पैसा उधार देना, व्यापार तथा दूसरे प्रकार के कार्यो के लिए उधार देना बुर्जुआजी का एक रूढ़िवादी क्षेत्र था जिसमें वे अपनी पूँजी लगाते थे।

1895 में पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। उसके बाद अन्य अनेक बैंकों जैसे जॉइंट स्टाक बैंक ऑफ इन्डिया '1906' इंडियन बैंक '1907' सेन्ट्रल बैंक '1911' दि बैंक आफ मैसूर '1913' की स्थापना हुई।[35] भारतीय नवोदित जॉइंट स्टाक बैंक एकाएक ब्रिटिश प्रशासन और ब्रिटिश बैंकों की नीति के भेदभाव के शिकार हुए। ब्रिटिश पूँजीपति उनको निरर्थक प्रतिद्वन्दी समझने लगे और अन्य तरीकों से उनके विकास में बाधा डालने लगे।

इस काल '1905-1917' में भारतीय उद्योगों के विकास की गति बहुत धीमी थी। केवल कपास और पटसन के ही उद्योगों का विकास हुआ। भारी उद्योगों का अभाव था। इंजीनियरिंग के क्षेत्र में केवल मरम्मत करने के लिए स्थापित कारखानों का, और वह भी मुख्यतया रेलवे के लिए काम करने वाले कारखानों का ही अस्तित्व था। लोहा और इस्पात की शुरूआत 1914 के युद्ध के समय ही हो सकी लेकिन मशीनों का उत्पादन अब भी शुरू ही हुआ था।[36]

---

[34] **Times of India** November 12 P. 21 Quoted in **Capitalism in India** AL Loukovsky
[35] Wadia, P.A. and Joshi, G. Hl, Moreyard **Money Market in India** ,p. 346
[36] R.P. Dutt **India Today** Second Ed. 1980 Calcutta P. 153

मुक्त व्यापार की नीति प्रथम महायुद्ध तक चलती रही परन्तु युद्ध के फलस्वरूप साम्राज्यवाद धीरे-धीरे कमजोर होता गया और औपनिवेशिक राज्य राष्ट्रीय बुर्जुआजी के मांगों के प्रति और अधिक देर तक लापरवाही नहीं दिखा सका। नीति परिवर्तन के तीन मुख्य कारणों से भी और सरकार उद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने की सीमित रूप से चेष्टा कर रही थी।

पहला कारण औद्योगिक था, विश्वयुद्ध के कारण अनविार्य हो गया कि सैनिक और सामरिक कारणों से नये उद्योगों का निर्माण किया जाय और उनको प्रभावशाली संरक्षण प्रदान किया जाय। यु. वोटे (U-Boots) तथा कर के रूप में "सेंट्रल पावर के युद्धपोत व नावें मसानिया के जल-डमरू (Straits) के आस-पास और बीच में पड़े रहते थे और अपनी सहूलियत के अनुसार सहयोगी किश्तियों का सामान लाद लेते थे। जैसे ही वे वहाँ पर आते थे वहाँ से कुछ भी नहीं निकल सकता था। अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों को पूर्व में इस्पात की अत्यधिक आवश्यकता थी- इसका अर्थ था टाटा उनको बारूद के गोलों की आवश्यकता था- इसका अर्थ भी टाटा ही था" युद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपना सबक सीख लिया युद्ध की आवश्यकताओं के दबाव के कारण भारतीय सरकार को अपना एकाकीपन छोड़ना पड़ा यद्यपि उन्होनें भारतीय उद्यम के प्रति ईर्ष्याभाव को नही छोड़ा।

दूसरा कारण आर्थिक था। भारतीय बाजार पर अंग्रेजों द्वारा स्थापित एकाधिकार को विदेशी प्रतियोगियों ने ध्वस्त करना शुरू कर दिया। 1914 तक अंग्रेजों का भारतीय बाजार पर नियन्त्रण अवनति की ओर जा चुका था। 1874 से 1879 तक भारतीय आयात 82 प्रतिशत था जो 1914 से घटकर 66 प्रतिशत हो गया था। युद्ध की आवश्यकताओं

के कारण ब्रिटिश औद्योगिक स्थिति के कमजोर होने से इस बात का खतरा पैदा हो गया कि युद्ध के बाद अन्य देशों का भारत में तेजी से प्रवेश होने लगेगा और भारत का बाजार ब्रिटेन के हाथ से निकल जायेगा। इसे रोकने के लिए सीमाशुल्क की प्रणाली अपनाकर उसे दो प्रकार से मदद मिलेगी। एक तो यह कि अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व के कारण वह अन्ततः ब्रिटिश उद्योग पति भारत में प्रवेश किए बिना भी ब्रिटिश पूँजी के लिए मुनाफा निकाल सकते थे।

दूसरे उस सीमाशुल्क की व्यवस्था यदि एक बार हो जाती है तो इस बात के लिए भी रास्ता तैयार हो जायेगा कि ब्रिटेन से आने वाले माल पर शुल्क कम करके अंग्रेज भारत के बाजार पर फिर से कब्जा कर लें।

तीसरा कारण अन्दरूनी राजनीति थी। युद्ध के दौरान और उसके बाद के अशांतिपूर्ण वर्षों में भारत पर अपना नियन्त्रण बनाए रखने के लिए अंगेजों के लिए यह जरूरी हो गया था कि वे भारत में पूँजीवादी वर्ग का सहयोग प्राप्त करें और इसके लिए यह आवश्यक था कि यहाँ के पूँजीपति वर्ग को कुछ आर्थिक तथा राजनीतिक सुविधाएँ दें तथा सुविधाएं देने का वायदा करें।

इस उद्देश्य के प्राप्ति की प्राप्ति के लिए 1916 में इन्स्टीट्यूट ऑफ माइनिंग इंजीनियर्स के अध्यक्ष सर थामस हालैंण्ड के सभापतित्व में भारतीय औद्योगिक आयोग का गठन हुआ जिसने 1918 में अपनी रिपोर्ट दी।

1918 के भारतीय औद्योगिक आयोग ने भारत के आर्थिक विकास के लिए कुछ मूल नियम निश्चित किए। औद्योगिक आयोग ने इसका समर्थन किया कि केन्द्रीय सरकार भारत के उद्योगीकरण को

प्रोत्साहित करे यांत्रिक शिक्षा और अनुसंधान कार्य के विकसित करे, औद्योगिक बैंकों का निर्माण करे और निजी उद्योगों को वाणिज्य विकास के लिए जहाँ भी आवश्यक हो सीधी आर्थिक सहायता दे।[37]

औद्योगिक आयोग की इस सलाह के बाद एक वित्त आयोग की स्थापना की गयी। इसकी स्थापना 1921 में की गयी और 1922 में उसने अपनी जॉच-रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें कहा गया कि प्रत्येक मामले की जॉच करके उसे विवेकयुक्त संरक्षण प्रदान किया जाय। परन्तु पॉच भारतीय सदस्यों ने इसका विरोध करते हुए कहा कि सम्पूर्ण संरक्षण दिया जाय।[38]

इस रिपोर्ट के फलस्वरूप 1923 में एक टैरिफ बोर्ड का गठन किया गया। 1923 और 1939 के दौरान बोर्ड ने ५१ उद्योगों की जॉच की और 11 उद्योगों को संरक्षण दिया।

औद्योगिक विकास की मदद के लिए कन्द्रीय उद्योग एवं शोध व्यूरो (Central Bureau of Industries Intelligence and Research) की स्थापना हुई। लेकिन उन सबके बावजूद भारतीय उद्योगों के स्वतन्त्र त्वरित और भरपूर विकास की बुनियादी शर्त पूरी नहीं हुई। भारतीय उद्योग आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है, किन्तु इसके विकास की ओर विल्कुल ध्यान नहीं दिया गया।[39]

आयरन और स्टील कंपनी का संरक्षण प्रदान करने के बाद टैरिफ बोर्ड को बहुत से प्रार्थना पत्र प्राप्त हुए। इन प्रार्थना पत्रों को स्वीकृति नहीं दी गयी। केवल माचिस उद्योग की स्वीकृति दी गयी

---

[37] **Report of the Indian Industrial Commission,** 1916-18, Vol. I, pp. 229-242
[38] Y.B. Singh, **Indian Economy,** p. 42
[39] Sir M. Vishweshwaraya, **Planned Economy for India,** 1936, p. 247

जिसमें विदेशी पूँजी लगी हुई थी। आयरन और स्टील कम्पनी को जो सहायता प्राप्त हाती थी वह 1927 में वापस ले गयी गयी।

इस प्रकार 20 वीं शताब्दी के शुरू में जो टैरिफ नीति वास्तविक रूप से भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए शुरू की गयी थी वह साम्राज्यवादी प्राथमिकता में बदल गयी जिसने ब्रिटिश उद्योगों को भारतीय मंडी में होड़ लेने के लिए सहायता प्रदान की और इसके बदले में भारत को अपना कच्चा माल और अर्द्धउत्पादित माल बेचने के लिए ब्रिटिश मंडी में अनुकूल दाम मिले यह भारत को 1914 की युद्धपूर्व स्थिति में वापस पहुँचानें का एक स्पष्ट प्रयत्न था।

1929 और 1923 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट का भी भारत पर गहरा असर पड़ा क्योंकि भारत प्राथमिक सामग्री के लिए आत्म निर्भर था जिसका मूल्य घटकर आधा हो गया। 1928–29 से 1932–33 के बीच भारत से निर्यात किए जाने वाले समान का मूल्य 3 अरब 39 करोण से घटकर 1 अरब 35 करोण रूपये हो गया। फिर भी भारत से भेजे जाने वाले माल, नजराने की राशि, ऋण पर ब्याज और घरेलू खर्चे की राशि कम होने के बजाय, कीमतों के गिर जाने के कारण दुगुनी हुई और इसे भारत से बड़ी निर्दयता से वसूल किया गया। इसकी अदायगी खजाने के निर्यात से की गयी। 1931 और 1935 के बीच 3.2 करोण अरब औंस सोना भारत से बाहर गया। 1936–37 में भारतीय जनता के सोने के खजाने में कमी हुई और इससे औद्योगिक समान की खरीद में कमी हुई।

इसी समय वित्त पर भारतीयों के नियन्त्रण में और कमी लाने के लिए इंपीरियल बैक के साथ-साथ 1934 में एक नये रिजर्व बैंक की स्थापना की गयी।

आधुनिक उद्योगों के निरन्तर विस्तार के बावजूद भारत का विउद्योगीकरण ही हुआ। कारखाना उद्योग की प्रगति हस्तशिल्प उद्योग के विनाश की कमी पूरी नहीं की। 1913 के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत कुल मजदूरों की संख्या 150 लाख अर्थात कार्यशील आबादी के 1 प्रतिशत से भी कम थी। यदि खदानों में काम करने वाले 2,60,000 लोगों और 8,20,000 रेल कर्मियों की संख्या जोड़ दिया जाये तो भी आधुनिक उद्योग में लगे 26 लाख लोगों की संख्या कुल कार्यशील आबादी का 1.5 प्रतिशत होती है। इतना ही नहीं 1914 के बाद विकास दर भी, जो तीव्र उद्योगीकरण के छाप से दूर ही रही, कुछ मामलों में 1914 के पहले की अवधि की तुलना में धीमी रही। 1897 से 1914 के 17 वर्षों में कारखाना मज़दूरो की संख्या 530000 की वृद्धि हुई। 1914 से 1931के बीच 17 वर्षों में कारखाना मज़दूरों की संख्या 480000 की वृद्धि हुई।

निम्नलिखित तालिका से कारखाना अधिनियम (फैक्ट्रीज़ ऐक्ट) के अन्तर्गत मजदूरो की संख्या में वृद्धि इस प्रकार हुईः।

वर्ष	संख्या
1897	4,21,000
1907	7,29,000
1914	9,51,000
1922	913,61,000
1931	14,36,000

इस प्रकार पहले की तुलना में 1914 के विकास की गति न सिर्फ धीमी रही बल्कि कुंल वृद्धि भी पहले से कम हुई।

इस अवरूद्ध आर्थिक विकास के लिए भारत के समूचें सामाजिक ढाँचे की कई बातें जिम्मेदार है लेकिन इसका मुख्य कारण साम्राज्यवादी प्रणाली में निहित है। पहला साम्राज्यवादी व्यवस्था की कार्य–प्रणाली का रूप अनिवार्य रूप से स्वतन्त्र औद्योगिक विकास के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है और इसलिए उसने भारतीय जनता की उन शक्तियों को हर तरह से नष्ट किया है जो अन्य अवरोधों पर काबू पाने में सफल हो सकती थी। दूसरे साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था जनता के आर्थिक विकास को अपने शिकजे में कसकर विफल और धीमा कर देती है। तीसरे, क्षीण होती ब्रिटिश पूँजी का हर तरीके से भारतीय बाजार में हिस्सा बनाए रखने और बढ़ाये रखने का कृतसंकल्प चौथे, भारतीय उद्योग के लिए घरेलू बाजार की असाध्य समस्याएं पैदा कर देना और खेतिहर जनता को कंगाल बना देना। पॉचवें, महाजनी पूँजी द्वारा सामरिक महत्व के सभी निर्णायक स्थलों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करके भारतीय उद्योग को अपने दया आश्रित कर लेना।

ब्रिटिश पूँजी भारतीय पूँजी को प्रबंधक के जरिए नियन्त्रित करती है। मैननेजिंग एजेन्सी कम्पन्यिां भारतीय और अंग्रेजी दोनों तरह की है। लेकिन सबसे पुरानी और सबसे आधुनिक कम्पनियां अंग्रेजों की है। क्योंकि अंग्रेजी कम्पनियों का सम्बन्ध सीधे ही सरकार और लन्दन से है। इनमें सबसे शक्तिशाली और प्राचीन है– एन्ड्रीव यूल एण्ड कम्पनी तथा जार्डन एण्ड स्किनर। मुख्य भारतीय कम्पनियां थी– टाटा, बिड़ला और डाल मिया।

जब भारतीय मैनेजिंग एजेन्सियों ने अपने लाभ के लिए उद्योगों का विकास किया तब ब्रिटिश मैनेजिंग एजेन्सियां अधिक शक्तिशाली

रही। इकसा स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिका से होता है जो कि 1927 के टैरिफ बोर्ड की काटन टैक्सटाइल जॉच से उपलब्ध हुई है। इस तालिका के अन्तर्गत बम्बई की सूती कपड़े की 99 प्रतिशत मिलें आ जाती हैं।

बम्बई की कपड़ा मिले[40]

	मिलें	तकलियाँ	करघे	पूँजी (करोड़ रूपये में)
अंग्रेज मैनेजिंग एजेंटों वाली कम्पनियां (9)	27	11,12,114	22,121	9.89
भारतीय मैनेजिंग एजेंटों वाली कम्पनियां (32)	56	23,60,528	51,580	9.77

इससे यह देखा जा सकता है कि अंग्रेज मैनेजिंग एजेंटों का जहां केवल 22 प्रतिशत कम्पनियों पर नियन्त्रण था वहीं उनका मिलों पर 33 प्रतिशत तकलियों, पर 32 प्रतिशत ,करघों पर 30 प्रतिशत और पूँजी के एक बड़े हिस्से 'अर्थात 50.3 प्रतिशत' पर नियन्त्रण था। यह ऐसे उद्योग की स्थिति है जो भारतीय पूँजी के विकास का प्रमुख क्षेत्र है।

बाद के वर्षो में उत्पन्न आर्थिक संकट ने मैनेजिंग एजेन्सियों को मिलों पर अपना पंजा जमाने और कुछ मामलों में तो भारतीय शेयर होल्डरों का हिस्सा छीन लेने का मौका दिया। इस तथ्य को 1931 में इंडियन सेन्ट्रल बैंकिग इन्क्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया।[41]

[40] R. P. Dutt. **India Today** ,p. 166
[41] **Report of the Central Banking Enquiry Committee** 1931 Vol.2, p. 279

भारतीय उद्योग पर ब्रिटिश पूँजी की पकड़ अब भी बनी हुई है जैसा कि ह्यूज डाल्टन (Huge Dalton) ने जुलाई 1946 में हाउस आफ कामंस में कहा था, –"भारतीयों के हाथ में इसका स्थानान्तरण ज्यादा नही हुआ। दूसरी तरफ इसकी एकदम विपरीत प्रक्रिया अर्थात भारत में पूँजी की घूसपैठ देखी जा सकती है। विदेशी कम्पनियों ने भारत में अपनी उप कम्पनियां खोल दी और भारत में इन्हें पंजीकृत भी कराया। लीवर ब्रदर्स, डनलप, इंपीरियल केमिकल्स जैसी विशाल कम्पनियों की भारत में अपनी सहायक कम्पनियां है और इंडिया लिमिटेड की संख्या दिनोदिन बढ़ रही है। 1943–44 की समाप्ति तक के पॉच वर्षो में 108 इंडिया लिमिटेड कम्पनियों ने भारत में अपना पंजीकरण कराया। इन कम्पनियों के अन्तर्गत हर तरह के उद्योग आते है। जैसा कि प्रोफेसर वाडिया और मर्चेन्ट ने लिखा है," भारी पूँजी से लगे गैर भारतीय कारखानों ने माचिस, सिगरेट, साबुन, जूता, रबर, रसायन आदि का जबरजस्त उत्पादन शुरू किया और भारतीय करखानों को नष्ट कर दिया है। उन्होंने न केवल बड़े अद्योगों का मुकाबला किया बल्कि भारत के लघु उद्योगों के लिए भी खतरा पैदा कर दिया।[42]

भारतीय उद्योगों के लिए इन इंडिया लिमिटेड कंपनियों के बढ़ते हुए खतरे के बारे में बम्बइ की औद्योगिक और आर्थिक जॉच समिति ने 1940 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में कहा, "यदि हमारी औद्योगिकनीति का लक्ष्य छोटी कम्पनियों की स्थापना को प्रोत्साहन देना है तो बड़ी विदेशी कम्पनियों की उचित और कारगर बन्दिश के बिना खुद को स्थापित करने की अनुमति दे देने से हम अपने लक्ष्य में विफल हो जायेंगे।

[42] Wadia and Merchant, **On Economic Problems**, p. 466

ब्रिटिश वित्तीय पूंजी की नियंत्रक शक्ति के लिये सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विदेशी बैंकिग व्यवस्था की है जो सरकार की वित्तीय और विनिमय नीति के साथ मिल कर काम कर रही थी। 1920 के अन्तिम दो वर्ष को छोड़ कर बंगाल तथा मद्रास के प्रेसीडेंसी बैंक में किसी भी भारतीय को डायरेक्टर के पद पर नियुक्त नहीं किया गया। भारतीय उद्योगों को ऋण लेने के लिये नस्लवादी और राजनीतिक भेदभाव का सामना करना पड़ता था।[43]

भारतीय फर्मों के मुकाबले यूरोपीय फर्मों को बैंक ज़्यादा खुलकर कर्ज देता है और जिन भारतीय फर्मों ने बैंक से मदद ली है उनके बड़े तल्ख तजुर्बे रहे हैं। यह भी कहा जाता है कि गैर भारतीय फर्मो ने जहां बैकों से पूरी-पूरी मदद ली वहां भारतीय फर्मो को दी गयी मदद काफी कम है और वह फर्म की अनिवार्य जरूरतों को भी पूरा नहीं करती।[44]

तृतीय चरणः-

द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप जितना बुरा प्रभाव भारतीय अर्थ व्यवस्था पर पड़ा ऐसा ब्रिटिश शासन के इतिहास में कभी नहीं हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत की उत्पादन क्षमता को क्षतिग्रस्त कर दिया। यह कार्य उसने निम्न तरीकों से कियाः

(1) औपनिवेशिक राज्य द्वारा

(2) इजारेदारों द्वारा

(3) अनेक कानूनों का निर्माण करके

(4) भारतीय खजाने को पहले से कहीं अधिक लूटकर।

---

[43] A.K. Bagchi, **Private Investment in India,** 1900-1937, pp. 171-172

[44] Majority Report On the Indian Central Banking Inquiry Committee 1931 Vol. I ,pp. 271-272

भारत की जनता का पूर्ण रूप से दोहन करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने औपनिवेशिक राज्य का प्रयोग किया। नवम्बर 1939 में ब्रिटिश सरकार ने अपने एजेन्टों द्वारा भारत सरकार के साथ एक आर्थिक समझौता किया जिसमें रक्षा व्यय को आपस में बांटने का विधान था। इस समझौते की शर्तों के अनुसार भारत की सभी स्थल सैनिकों को रखने प्रशिक्षित करने, हथियारों से लैंस करने और उनकी देखरेख करने का खर्च तब तक उठाना पड़ेगा जब तक वे भारत में जमें रहें और भारतीय इलाके की रक्षा के लिए उपलब्ध रहे। जब वे विदेश रवाना हो जाय तो यह खर्च ब्रिटेन की शाही सरकार से वसूल किया जायेगा। 7 दिसम्बर 1941 में जब पर्ल हारबर पर आक्रमण हुआ तो भारत युद्ध का मुख्य क्षेत्र बना विदेशी सैनिक भारत में स्थित हो गये, उनको सभी प्रकार की सेवाएं और खाने का सामान दिया गया। इसके भुगतान के लिए ब्रिटेन की शाही सरकार भारत सरकार और रिजर्व बैंक आफ इंडिया इस बात पर सहमत थे कि रिजर्व बैंक को ब्रिटेन की शाही सरकार की ओर से किए गये इस तरह के खर्चो के बदले में भारत में अधिक से अधिक कागजी मुद्रा जारी करनी चाहिए। शाही सरकार जारी किए गये इन कागजी नोटों के बराबर की स्टर्लिंग मुद्रा को बैंक आफ इंग्लैण्ड के खाते में जमा करती जायेगी।[45]

अधिक से अधिक करेंसी नोट जारी करके युद्ध का खर्च चलाने की इस साम्राज्यवादी प्रणाली का भारतीय अर्थ व्यवस्था पर गंभीर प्रभाव पड़ा। मुद्रास्फीति ने ब्रिटिश वित्त प्रबन्धक को औपनिवेशिक जनता के धन चुराने का ही नहीं वरन मुद्रा संचालन पर नियन्त्रण रखने का भी अवसर प्रदान किया। इस समूची प्रक्रिया के

---

[45] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद पृ० 90

परिणामस्वरूप भारतीय श्रमिक जनता का अधिक तेजी से शोषण हुआ जो कि भारत के राष्ट्रीय ऋण के अत्यधिक विकास से लक्षित होता है।[46]

साम्राज्यवादी राज्य ने भारतीय खाद्यानों का अधिकाधिक निर्यात किया जिसके परिणामस्वरूप भारत में खाद्यान्नों का अभाव हो गया। इससे सट्‌टेबाजी करने वालों को अच्छा अवसर प्राप्त हुआ।

इन परिस्थितियों में भी, औपनिवेशिक राज्य द्वारा उत्पन्न तमाम अड़चनों और कृषि-क्षेत्र में सशक्त सामंवादी सम्बन्धों के बावजूद भारत में पूंजीवादी विकास होता रहा। भारतीय कारखानों में कार्यरत मजदूरों की संख्या 1939 में 17,51,136 थी जो 1944 में बढ़कर 25,20,000 हो गयी। ब्रिटिश भारत में सम्मिलित पूँजीवादी कम्पनियों की प्रदत्त पूँजी 1939–40 में 2 अरब, 38 करोड 50 लाख रूपये थी जो 1943–44 में बढ़कर 3 अरब 29 करोड 20 लाख रूपये हो गयी। औद्योगिक कार्यो का सूचकांक 139–40 में 114.0 था, जो मई 1945 में अर्थात युरोपीय युद्ध की समाप्ति पर बढ़कर 120.5 हो गया। जनवरी 1945 में यह सूचकांक 132.1 हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले कुछ वर्षो में कुछ ही नयी कम्पनियां खुली परन्तु 1942 के बाद इनकी संख्या दिनादिन बढ़ती गयी। 1939–47 के दोरान भारत में पंजीकृत जॉइंट स्टाक कंपनियों का विवरण नीचे तालिका में है।

---

[46] वही

पंजीकृत जॉइंट स्टाक कंपनियाँ (1939-47)[47]

वर्ष	कम्पनियों की संख्या	लागत पूँजी (करोड़ रूपयों में)
1939	11,114	2,903.9
1940	11,373	3,036.8
1941	11,638	3,095.8
1942	12,049	3,251.9
1943	12,770	3,361.3
1944	13,689	3,537.4
1945	14,859	3,889.7
1946	17,343	4,242.4
1947	21,853	4,794.7

युद्ध के दौरान औद्योगिक मशीनों का जो पूँजीवादी विस्तार हुआ वह नहीं के बराबर था और इसके फलस्वरूप फैक्ट्रियों के उत्पादन में बाधा पड़ी। उत्पादन केवल हल्के उद्योगों में बढ़ा जिनकी स्थिति विदेशी प्रतियोगिता के अभाव की वजह से सुधर गयी। युद्ध से पहले सबसे अधिक प्रतियोगिता जापान के साथ थी जो कि भारतीय बाजार में कच्चे माल की कीमतों के बराबर कपड़ा भर देता था। बहुत वर्षो तक भीषण संघर्ष होता रह- 1932 से पहल के पारित कानून सहायक सिद्ध नहीं हुए। दूसरे विश्वयुद्ध से, जो 1939 में शुरू हुआ, दो वर्षो तक मिलों को कुछ चैन मिला। ब्रिटिश सूती कपड़े का आयात काफी कम हो गया।

---

[47] वही पृ0 90

ब्रिटिश सूती कपड़े का निर्यात [48]

वर्ष	करोड़ गज़
1938	27.32
1942	6.22
1945	0.12

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मिलों के द्वारा उत्पादित सूती कपड़े की सम्पूर्ण मॉग को अब भारतीय मिले ही पूरा करती थी। भारतीय मिल मालिकों ने इस अवसर का लाभ उठाया और विदेशी मण्डियों जैसे निकट पूर्व (Near-east) और आस्ट्रेलिया में प्रवेश करना शुरू कर दिया। उन्होंने जापानी इजारेदारों और कुछ सीमा तक लंकासायर का स्थान ग्रहण करना शुरू कर दिया। युद्ध के दौरान निर्यात में क्या क्या वृद्धि और अवनति हुई नीचे तालिका में दर्शाया गया है।[49]

सूती कपड़े का निर्यात

वर्ष	करोड़ गज
1938–39	19.27
1939–40	23.80
1940–41	43.36
1941–42	85.76
1942–43	85.53
1943–44	46.29
1944–45	41.53

[48] वही पृ0 91
[49] वही पृ0 91–92

जैसे-जैसे उत्पादन में वृद्धि हो रही थी वैसे-वैसे कच्चे माल की कमी महसूस हो रही थी। कुछ अन्य प्रकार के खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि हुई। कागज का उत्पादन बढ़ा युद्ध से पूवै के वर्षों में 59000 टन कागज. का उज्पादन था जो 1943–44 में बढकर 90,000 टन हो गया। बाद में 1944–45 में इसमें गिरावट आयी यह 75,000 टन रह गया। युद्ध के दौरान मिल में बने कपड़े का उत्पादन 3 अरब 80 करोड़ गज से बढ़कर 4 अरब 70 करोड़ गज हो गया। युद्ध से मिले प्रोत्साहन के फलस्वरूप रसायनों आदि के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इस्पात का वार्षिक उत्पादन 1939 में 7,50,000 टन था जो 1943–44 में बढ़कर लगभग 11,25,000 हो गया विशेष प्रकार के एलॉय और एसिड स्अील जैसे नये तरह के इस्पात का पहली बार उत्पादन हुआ। विमानों पानी के जहाजों आदि की मरम्मत भी कुछ हद तक की गयी।

परन्तु युद्ध के दिनों में भारत में जो भी वृद्धि हुई वह मौजूदा कारखानों और मशीनों को बेतहाशा चलाकर तथा मजदूरों से कई-कई पारियों में काम कराकर हुई। 1943 तक उत्पादन में वृद्धि हुई जिसके बाद गिरावट शुरू हो गयी। प्रत्येक कारीगर के उत्पादन क्षमता में भारी कमी हुई। यह इस कारण से नही था कि कारीगरों का शोषण कम हो गया था बल्कि इस कारण से था कि मशीनें पुरानी हो चुकी थी और कारीगरों का जीवन स्तर निम्न कोटि का हो गया था।

लड़ाई के दौरान भी भारत की कोई अपनी इंजीनियरिंग इंडस्ट्री नहीं थी। हवाई जहाज बनाने वाली इंडस्ट्री या कोई भी ऐसी अन्य महत्वपूर्ण इंडस्ट्री नहीं थी जो कि किसी अन्य देश के समान हो। केवल वे ही उद्योग स्थापित हो सके जो ब्रिटेन और अमरीका में बनाई जाने वाली मशीनों का गठन करते थे। लाइसेंस और निर्यात पर रोक लगा कर औपनिवेशिक सरकार ने औद्योगिक यन्त्रों के निर्यात को

निरूत्साहित कर दिया। यह स्थिति ऐसी दशा में पहुँच गयी कि कच्चा लोहा इंग्लैण्ड को निर्यात किया जाने लगा और इस्पात का आयात होने लगा। भारतीय सरकार ने उद्योगपतियों को औद्योगिक ज्वांइट स्टाक कम्पनियों का निर्माण करने की अनुमति नहीं दी। पी० सिंघानिया ने भारत के इजारेदारों के अध्यक्ष थे, घोषित किया: "यह स्पष्ट है कि काई भी औद्योगिक राज, जो इतना अधिक विकसित है अपने अधीन राज को औद्योगिक विकास के लिए प्रोत्साहित नही करेगा क्योंकि उससे उसको कच्चे माल और अपने उत्पादित माल की विशाल मंडी से हाथ धोना पड़ेगा।"[50]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का एक महत्व पूर्ण अंग है। देश के आर्थिक जीवन में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि व्यापार के दो पहलू होते है- आन्तरिक और बाह्य।

देश का आन्तरिक विकास उसके उत्पादन और निर्यात को निश्चित करता है। यह उन राज्यों पर लागू होता है जो स्वतन्त्र और अपने निजी मामलों को स्वयं निश्चित करते हैं विदेशी राज्य की आन्तरिक अर्थव्यवस्था तथा निर्यात को निश्चित करते है। यह उन राज्यों पर लागू होता है जो विदेशी सत्ता के अधीन होते है। भारत इस श्रेणी के अन्तर्गत आता है। उपनिवेशवाद के प्रभाव के कारण भारत में एक वाणिज्यिक क्रान्ति आयी जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारत विश्व बाजार से जुड़ गया। परन्तु उसका स्थान ब्रिटिश राज्य के अधीन रहा।

19 वीं शताब्दी के मध्य से भारत का विदेशी व्यापार मूल्य और आकार दोनों ही दृष्टियों से बढ़ रहा था। 1835 में आयात 8 करोड़

[50] **The Asiatic Review** ,July 1945 p. 267

पौंड तथा जो 1857 में बढकर 29 करोड़ पौण्ड हो गया। इस काल में निर्यात 8 करोड़ पौंड से बढ़कर 27 करोड़ पौंड़ हो गया।

निम्नलिखित अनुकूल कारणों के परिणामस्वरूप यह प्रवृत्ति 1857 से 1893 में और भी वीव्र हो गयी।

(1) यातायात में सुधार
(2) भारत के लिए मुक्त व्यापार
(3) विदेशी मुद्रा का आयात
(4) देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था के स्थापित होने के कारण।

परन्तु इन सभी तत्वों के प्रतिकूल परिस्थितियां भी थी जैसे देश में अकाल 1870–79 में विदेश वाणिज्य संकट। इसके अतिरिक्त 1871 में एक रूपये का मूल्य 2 शीलिंग था जो 1882 से घटकर 1 शीलिंग रह गया। परन्तु इन सभी संकटों के होते हुए भी 1890 के बाद भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि हुई।

निम्नलिखित तालिका स्पष्ट करती है कि 19 वीं शताब्दी के दौरान भारत के व्यापार में किस प्रकार वृद्धि हुई:-

19 वीं सदी के दौरान भारतीय व्यापार में वृद्धि [51]

अवधि	आयात	मूल्य लाख रू. में वार्षिक औसत निर्यात
1834–5 से 1838–9	7.32	11.32
1849–50 से 1853–54	15.85	20.02
1859–60 से 1863–64	41.05	41.17
1869–70 से		
1879–80 से 1883–84	41.33	57.84
1889–90 से 1894	61.81	80.41
	88.70	108.67
1890–1900 से 1903–04	110.69	136.54
1904–5	143.92	174.14

[51] Bipin Chandra. **The Rise and Growth of Economic Nationalism in India,** p. 143

निर्यात अधिशेष के निरन्तर लेखे के फलस्वरूप जिसका व्यापार का अनुकूल सतुन्लन कहते है, देश पर एकाकी खजाने की तब्दीली लागू कर दी।

1– 1870 से 1939 तक लगातार निर्यात अधिक हुआ और आयात कम हुआ। साधारण तौर पर कुछ वर्षो के अन्दर निर्यात और आयात में सन्तुलन हो जाना चाहिए था, परन्तु भारत के सन्दर्भ में ऐसा नहीं हुआ।

भारत के निर्यात का इस प्रकार लगातार विकास भारत की खुशहाली का चिन्ह नहीं था, परन्तु यह ब्रिटिश राज्य की मॉगों की पूर्ति के लिए किया गया था। इसका कारण यह था कि भारत ब्रिटेन के अधीन था और इसलिए भारत को उन सेवाओं पर खर्च वहन करना पड़ता था जो इंग्लैंण्ड भारत को प्रदान करता था। अतः भारत के विदेशी व्यापार का प्रभाव भारत के औद्योगिक विकास में निर्धनता का कारण था। दादाभाई नौरोजी ने, जो स्वयं एक अर्थशास्त्री थे इसको दोहन बताया।

18वीं और 19वीं शताब्दी के युरोपीय व्यापारिक क्षेत्र में अधिक निर्यात राष्ट्र के लिए हितकारी माना जाता था। यहां केवल औपनिवेशिक सन्दर्भ में ही निर्यात से अधिक आयात को राष्ट्र के 'दोहन' का कारण माना गया है। यह निश्चित करना कि क्या अधिक निर्यात देश के लिए हितकारी था, इस बात पर निर्भर है कि इस अधिक निर्यात का किस रूप में प्रयोग किया जाता है।

भारत अपने अधिक निर्यात के लिए जिन पॉच वस्तुओं का आयात करता था वे थीः

(1) सेवा और खजाने जो ब्रिटिश सरकार भारत को प्रदान करतीथी;

(2) अनेक प्रकार की उत्पादित माल निजी रूप से आयात करता था;
(3) अनेक प्रकार की मूल्यवान धातुऐं;
(4) अनेक प्रकार की अप्रत्यक्ष व्यापारी सेवाएं;
(5) अनेक प्रकार की वे सेवाएं जो युरोपीय भारत में रहकर भारत को प्रदान कर रहे थे और जिसे भारत के लिए आयात कह सकते हैं।

भारत के विदेश व्यापार की मुख्य विशेषता यह थी कि यहां निर्यात अधिक और आयात कम होता था। यह विशेषता मुख्यतया इंग्लैण्ड और भारत के बीच हुए व्यापार के सन्दर्भ में ठीक है।

इसमें दो प्रकार की वस्तुएं सम्मिलित थीं। एक वह सूची थी जिसमें गृहशुल्क, राजनीतिक कामों के लिए कटौती, भारत में पंजीकृत विदेशी पूँजी पर व्याज, विदेशी कम्पनियों को दिया गया माल और यात्री भाड़ा, बैकिंग कमीशनों पर भुगतान आदि चीजें शामिल थी। इन सबके बदले में भारत को सुरक्षा, सुव्यवस्था और शान्ति प्राप्त थी जो कि उसके लिए बहुत महंगी पड़ती थी।

भारत में ब्रिटेन तथा अन्य देशों को जाने वाला वार्षिक नजराना [52]

	लाख रूपयों में	लाख पौंडों में
राजनीतिक कामों के लिए कटौती	5,000	333
भारत में पंजीकृत विदेशी पूँजी पर व्याज	6,000	400
विदेशी कम्पनियों को दिया गया माल और यात्री-भाड़ा	4,163	277
भारत में विदेशी व्यापरियों और व्यापार में लोगों को मुनाफा	1,500	100
विविध	5,325	355
जोड़	21,988	1,465

[52] R. P. Dutta, **India Today**, p. 143

ब्रिटिश ऋण द्वारा रेलवे और सिंचाई साधन कहीं अधिक स्पष्ट रूप से विकसित किए गये। इन सबके निर्माण से ब्रिटेन के उद्योगों को प्रोत्साहन मिला, भारतीय उद्योगों को नही। इन सबसे से प्रत्यक्ष रूप से भारत के व्यापार और कृषि को प्रोत्साहन मिल सकता था परन्तु भारत में जिस प्रकार के रेलों का निर्माण हुआ उससे यह लाभ नहीं हो सका। भारत की सारी अर्थ व्यवस्था को निर्यात वाणिज्य की ओर मोड़ दिया जो कि औपनिवेशिक नीति द्वारा अनुशासित था। अन्त में लाभ रहित ऋण जो कि समय के साथ बढ़ता रहा और जिस पर व्याज भी बढ़ता रहा और कुल गृहशुल्क भारत की पूर्ण अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ था।

नीचे तालिका में 1913–14 से 1933–34 के दौरान बढ़ता हुआ गृह शुल्क इस प्रकार रहा हैं:-

बढ़ता हुआ गृहशुल्क

वर्ष	मूल्य ;पौंडों मेंद्ध
1913–14	20,311,673
1918-19	23,629,495
1924-25	31,888,776
1928-29	31,558715
1929-30	31,556,715
1933-34	28,862,177

दूसरी शुल्क स्पष्ट तौर पर वस्तुओं की थी। बैंक सेवाओं, बीमा कम्पनियों ,जहाजरानी, विदेशी उद्योगों पर लाभ, पटसन का उत्पादन खाद्यों की निजी अदायगी, आदि सेवाओं पर ब्रिटेन ने वास्तव में

एकाधिकार स्थापित किया हुआ था। अगर स्वतन्त्र प्रतिद्वन्दिता होती तो इन अस्पष्ट सेवाओं की तरह भारत स्वयं अपने उद्योगों को स्थापित कर लेता।

19वीं शताब्दी के दौरान भारत काफी मात्रा में उत्पादित माल प्राप्त करने लगा। ये अधिकतर उपभोक्ता सामग्रियां थीं और बाद में कुछ मशीनें, यन्त्र और मिलों में प्रयोग में लाई जाने वाली चीजें थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले भारत वर्ष का मुख्य सामान सूती कपड़ा, धातु निर्मित सामग्री, चीनी, तेल, उन, रेशमी, कपड़ा, मशीने और मिलों द्वारा निर्मित सामान था। पहली बार शहरी उद्योगों के लिए गाँवों का बाजार प्राप्त हुआ और गाँवों को अपने कच्चे माल के लिए कुछ लाभकारी वस्तुएं मिलने लगीं। परन्तु यह ग्रामीण बाजार ब्रिटिश शहरी उद्योगों द्वारा अनुशासित था और इस प्रकार से स्थापित एकाधिकार के कारण भारत के संगठित उद्योग का विकास नहीं हो सका।

भारतवर्ष ने श्वेत व्यापारी व्यवसायिकों और प्रशासनिक सेवाओं का आयात किया। इससे उसका काफी निर्यात अधिशेष समाप्त हो गया। भारत को इस श्वेत व्यवसायिक मजदूर वर्ग से जो लाभ हुआ वह था आधुनिक व्यापारी तथा औद्योगिक संगठन और कानून और शासन का एकाकी रूप। इस वर्ग के आयात से भारत के लोगों को उच्च प्रशासकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त न हो सका।

1900 और 1913 के बीच भारतीय वस्तओं की माँग बढ़ी। भारत से निर्यात ।की जाने वाली वस्तुओं की दर बढ़ती रही। व्यापार में इस प्रकार की वृद्धि से भारत की अर्थव्यवस्था के कुछहिस्सों को लाभ पहुँचा। इस काल के कर की दर में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सरकार द्वारा भारत का अधिशेष माल निकाल देने के परिणाम स्वरूप व्यापार की इस वृद्धि से समाज के

जिस वर्ग को लाभ हुआ था वह था साहूकार वर्ग। साथ ही आयात तथा निर्यात करने वाली उन फर्मों को लाभ हुआ जो इस कार्य में लगी हुई थी।

यह स्पष्ट है कि भारत के जि हिस्सों में कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ था और जिनमें कृषि वस्तुओं को निर्यात के लिए उत्पादन किया जाता था उन हिस्सों में किसान को सस्ती दर पर ऋण मिल जाता था और उसके माल के लिए उसको जो कीमत दी गयी वह संसार के बाजार में प्रचलित कीमतों की अपेक्षा कहीं अधिक थी।[53]

1905 के स्वदेशी आन्दोलन के परिणाम स्वरूप आधुनिक उद्योगों का विकास हुआ जिसका भारत के विदेश व्यापार पर प्रभाव दो तरह से पड़ा। पहला, उत्पादित माल के निर्यात में दिन-ब-दिन कमी होती गयी। दसरे, मिलों के द्वारा निर्मित सूती धागे, सूती कपड़े के टुकड़ों और पटसन से बने हुए माल का अब भारत से निर्यात होने लगा।

भारत के विदेश व्यापार ने एक और नया मोड़ लिया। अब भारत का विदेश व्यापार उन राज्यों के साथ विकसित होने लगा जो साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं आते थे। ब्रिटेन के उत्पादित माल को भारत की मंडी में अमरीका और अन्य महाद्वीप राज्यों के माल साथ मुकाबला करना पड़ा। भारत का व्यापार जापान और सुदूर-पूर्व वाले राज्यों के साथ अधिक चलने लगा, क्योंकि उनका माल भारत के लिए अधिक उपयुक्त था। अब ब्रिटेन जो माल भारत को निर्यात करता था वह 1866–70 के 53 प्रतिशत से 1909–13 के बीच 26 प्रतिशत रह गया। 1900 में भारत का आयात 69 प्रतिशत था और 1914 में यह गिरकर 64 प्रतिशत रहा गया जबकि इसी अवधि में जर्मनी ने जो आयात किया था

---

[53] B. R. Thompson, **The Political Economy of the Raj**, 1914-47, p. 6., सत्या राय भारत में उपनिवेशवाद एवं राष्ट्रवाद से उद्धृत, पृ० 103

वह 14 प्रतिशत से बढकर 69 प्रतिशत हो गया। नीचे तालिका से यह स्पष्ट होता है कि 1913–14 के दौरान भारत के विदेश व्यापार ने क्या रूख लिया।

आयात तथा निर्यात और विदेश व्यापार का बैलेंस, 1913–14

राज्य	निर्यात	आयात	व्यापार का बैलेंस
युनाइटेड किंगडम और ब्रिटिश	117	58	–59
राज्य के अन्य भाग	1	36	+25
सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य	128	94	–34
युरोप	30	85	–55
अमरीका	5	22	+17
जापान	5	23	+18
अन्य विदेशी राज्य	15	25	+10
कुल विदेशी राज्य	55	55	+110
कुल योग	183	249	+66

इस तालिका से स्पष्ट है कि केवल युनाइटेड किंगडम को छोड़कर दूसरे देशों के साथ भारत का निर्यात अधिशेष उसके आयात अधिशेष की कीमतों की पूर्ति करता था और युनाइटेड किंगडम के साथ अपने ऋण चुकाने में सहायता करता था।

प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप भारत के विदेश व्यापार को भारी आघात पहुँचा और युद्ध के बाद यह व्यापार आधार रह गया। इस काल उसका आयात, निर्यात की तुलना में काफी कम हो गया।

इसका कारण यह था कि आयात उपलब्ध करना बहुत कठिन था। भारत की कीमतें निर्यात की अपेक्षा बहुत अधिक हो गयीं क्योंकि निर्यात की कीमतें मित्र देशों के हितों के लिए नियंत्रित थीं। इस व्यापार की शर्तें भारत के विरूद्ध रहीं। आयात की भारी कमी के कारण भारत के पास निर्यात अधिशेष बढ़ता चला गया। सरकारी और गैर सरकारी दोनों लोगों का यह मत था कि यह भारत की उन्नति का लक्षण था। परन्तु यह निर्यात अधिशेष भ्रामक था क्योंकि राष्ट्र मूल आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित था।[54]

भारत के विदेश व्यापार की अवनति के अनेक कारण थेः-

क- व्यापार के क्षेत्रों का संकुचित होना;

1– शत्रु राज्यों के साथ व्यापार स्थगित होना, 2– मित्र देशों के साथ व्यापार का वास्तविक रूप से समाप्त होना क्योंकि परिवहन की कठिनाई थी, 3– तटस्थ राज्यों के साथ सीमित व्यापार विधि (निषेध और रोक के फलस्वरूपद्ध ताकि यह देश शत्रु को माल न दे सके)।

ख- वाणिज्य का कम क्षेत्रः-

1– युरोपियन शत्रु देश और तटस्थ देश की आवश्यक सामग्री के उत्पादन में लगे होने के निर्यात करने में असमर्थ थे;

2– वाणिज्य पर आन्तरिक और बाहरी प्रतिबन्ध,

3– वित्त और ऊँचे शुल्क की कठिनाई के कारण आयात और निर्यात पर कठोर नियन्त्रण। इन सबसे हमारा विदेश व्यापार प्रभावित हुआ और अमरीका और जापान से आयात बढ़ने लगा।

4– हथियारों के निर्यात में बढ़ोत्तरी

ग- जहाज़ की भार क्षमता में कमीः-

---

[51] V B. Singh, pp. 450-51

1- शत्रु देशों के जहाजों का वापस ले लिया जाना,

2- मित्र देशों के जहाजों को वापस ले लिया जाना।

भारत में अन्य देशों से निर्यात

वर्ष	युनाइटेड किंगडम	अमरीका
1935-36	31.7	5.6
1937-38	29 9	7 4
1939-40	25.2	9.2

इससे स्पष्ट है कि युनाइटेड किंगडम में भारत से आयात कम होता गया और अमरीका में भारत से आयात बढ़ता गया। यह सब उस समय हुआ जब ब्रिटेन संरक्षात्मक नीति को अपना रहा था जिसका ध्येय शुरू में भारत के नवोदित उद्योगों को सहायता देना था परन्तु बाद में वह साम्राज्यवादी प्राथमिकता में बदल गया और ब्रिटिश उद्योगों को सहायता देने लगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि ब्रिटेन भारत के साथ व्यापार का एक मुख्य साझेदार रहा फिर भी उसकी आयात और निर्यात की स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती गयी क्योंकि अब भारत बहुत सी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन कर रहा था जिनका पहले ब्रिटेन से आयात कर रहा था। एक कारण यह भी है कि अब वह ब्रिटेन के साथ सफलता पूर्वक होड़ कर रहा था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका भारत के व्यापार का एक मुख्य साझेदार हो गया। अमरीका भारत को अब उपयोगी सामान देने लगा और भारत से कच्चा माल माँगने लगा।

दूसरे विश्वयुद्ध ने भारतीय जनता के लिए अभाव तथा अकाल की स्थितियां पैदा कर दीं परन्तु भारतीय व्यापारियों के लिए यह

अत्यधिक लाभ का युग था। आयात लगभग समाप्त हो चुका था। सरकार की खरीद बहुत बढ़ चुकी थी, विशेषकर विदेशी आवश्यकता तथा युद्ध के कारण, अतएव भारतीय पूँजीवाद को विकास तथा समृद्ध होने का अवसर मिला। बेइमान उत्पादकों तथा व्यापारियों ने सट्टा बाजार, जमाखोरी तथा ब्लैक मार्केट के कारण अत्यधिक धन कमाया।[55]

150 वर्षों के अंग्रेजी राज्य ने भारत में अत्यन्त निर्धनता ओर कृषि और औद्योगिक दोनों क्षेत्रों में पिछड़ापन एक रिक्थ (Heritage) के रूप में दिया। जब 1947 में अंग्रेज यहां से चले गये तो वे संसार का सबसे विकृत भूमि का प्रश्न छोड़ गये जिसमें अधिकाधिक भूमि अधिकार, पट्टेदारी की अनिश्चित्ता, कृषि के आदिम ढंग, प्रति एकड़ कम उपज, छोटी-छोटी जोतों, साहूकारों का ऋण और उपज बेचने पर नियन्त्रण और कृषि में धन लगाने से भय विशेष महत्वपूर्ण प्रश्न थे। संक्षिप्त में कह सकते हैं कि अकाल दैत्य भारत के सामने खड़ा था और भारत जो एशिया का अन्न भण्डार था, अब सशक्त अकाल तथा सूखे की स्थिति में पहुंच गया था। औद्योगिक क्षेत्र की स्थिति भी इतनी ही बुरी थी, एकमुखी विकास, कम उत्पादन के ढंग, और श्रमिक की बुरी अवस्था और सबसे बड़ी बात यह कि अग्रेंजो का पूँजी पर नियंत्रण बना हुआ था।[56] अंग्रेज़ भारत को एक निर्धन देश छोड़ गये जिसमें प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम थी। दादाभाई नौरोजी पहले भारतीय थे, जिन्होंने 1862-68 में प्रति व्यक्ति आय का अनुमान मोटे तौर पर 20 रू० प्रतिवर्ष लगाया था। उन्होंने भूमि से उत्पादन आंका, उत्पादन का मूल्य अंक, नमक, कोयला अन्य खनिज पदार्थों और व्यापारियों के लाभ को आंका और फिर अनुमान लगाया। सरकारी आंकड़े जो मेजर

---

[55] बी. एल. ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० 455-56

[56] वही पृ० 456

एलविन बेरिंग और डेविड बैलफर ने एकत्रित किये, उसके अनुसार 1882 में यह आय 27 रू० वार्षिक थी। 1901 में कर्जन की सरकार ने यह आय 30 रू० बताई, परन्तु विलियम डिग्नी ने अंग्रेज़ी भारत के लिये 1899 में यह आय 18 रू० वार्षिक आंकी जो कि कर्ज़न के अनुमान से 43 प्रतिशत कम थी। डा० वी० के० आर० वी० राव ने अधिक उत्तम ढंग का प्रयोग करते हुए 1931–32 के सारे भारत के लिये यह आय 62 रू0 प्रतिवर्ष, प्रतिशत कम अथवा अधिक निश्चित की थी। शाह और खम्बाटा जिन्होंने अपने अन्वेषण को 1924 में प्रकाशित किया था, ने इस विषय में कहा था, -

> " औसत भारतीय आय इतनी है कि प्रत्येक तीन मे से दो व्यक्ति खाना खासकते हैं अथवा तीन समय भोजन के स्थान पर दो समय का भोजन ले सके परन्तु शर्त यह है कि वह नंगा रहे, सारा वर्ष बिना छत के निर्वाह करे, कोई मनोविनोद अथवा मनोरंजन न करे और केवल मोटे और पौष्टिक भोजन के अतिरिक्त और कुछ न खाये।"[57]

इस प्रकार 1947 में अंग्रेज़ जब गये तो देश की आर्थिक अवस्था ऐसी थी कि देश शताब्दियों के आर्थिक शोषण और निश्चित अल्प विकास से लड़खड़ा रहा था, एक ऐसा देश जिसमे प्राकृतिक साधन तो बहुत थे परन्तु जिसमें लोग निर्धन थे।

---

[57] वही 456

सांस्कृतिक प्रभाव

सबसे स्पष्ट तथ्य है भारत में अंग्रेज़ी राज का वन्ध्यवन और इसके भारतीय जीवन का निष्फल होना। (The most obvious fact is the sterility of British Rule in India and the ......of Indian life by it.)

-Jawahar Lal Nehru.

चूंकि भारत का रक्तस्राव करना ही है अतएव यह रक्त स्राव सावधानी से ही करना चाहिये।[58]

'As India must be bled; the bleeding should be done Judiciously.

-Salisbury -Secretay of State for India.

भारत में प्रारम्भ में आने वाले यूरोपीय व्यापारी एक नयी सभ्यता के प्रतिनिधि थे। उनके आर्थिक उद्यम, लक्ष्य और तरीके, व्यापारिक संगठन व व्यवसायिक आचरण भारतीयों से बहूत भिन्न थे। वे यूरोपीय राष्ट्रों से आये थे जिनकी राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि भिन्न थी। नैतिकता और रीति रिवाजों धर्म तथा संस्कृति और बौद्धिक प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण के क्षेत्र में उनमें और भारतीयों में व्यापक विषमता थी। यूरोपीय व्यपारियों और मिशनरियों के आगमन और भारतीयों से उनके सम्पर्क ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म दिया जो समय के साथ-साथ पूर्व और पश्चिम के बढ़ते व्यापार और सम्पर्क के साथ तीव्र होती गयी। इस प्रक्रिया में एक नयी अवस्था

---

[58] बी० एल० ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० 457

18वीं शताब्दी में अंग्रेज़ों द्वारा बंगाल पर विजय के साथ प्रारम्भ हुई फिर तो भारतीय राजनीति, सामाजिक जीवन और अर्थव्यवस्था तथा संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव और अधिक गहन तथा व्यापक होता गया।[59]

नये शासकों ने कुछ तो अपने शासन कार्य को सरल बनाने और कुछ उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए अनेक दूरगामी परिवर्तन किये। भारत में कानून और व्यवस्था की स्थापना की गयी, संचार व्यवस्था में सुधार, सड़कों और रेल मार्गों से सम्पूर्ण भारत को एक सूत्र में जोड़कर आवागमन का मार्ग तैयार किया गया, संसाधनों के अधिकाधिक दोहन के लिए कृषि और सिंचाई व्यवस्था में सुधार किया गया, भारत के उत्पादन संसाधनों के विकास के लिए उद्योगों को प्रारम्भ किया, एक नवीन अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली शुरू की गयी, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में नयी व्यवस्थाओं से भारतीयों का परिचय हुआ और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए प्रयत्न किये गये।

परिणामस्वरूप जो परिवर्तन प्लासी युद्ध से पूर्व धीमी गति से प्रारम्भ हुए थे, ब्रिटिश राज की स्थापना से एक निश्चित दिशा की ओर तेजी से बढ़ने लगे। इस काल में, भारत में विभिन्न प्रान्त समीप आये और सामाजिक समूहों की प्राचीन क्षीणबद्धता टूटने लगी। जाति व्यवस्था उदार होने लगी और पारम्परिक ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ने आत्मनिर्भता और अलगाव की अपनी विशेषताओं को खो दिया। विवाह और जाति प्रथा में अनेक सुधार किये गये। संयुक्त परिवार बिखरने लगे। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में पुनरूत्थान और पुनर्जागरण आंदोलन प्रारम्भ हुए। भारतीय समाज के एक वर्ग ने प्राचीन

---

[59] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ0 148.

अन्ध-विश्वासों को त्याग दिया। भारतीयों ने उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाना प्रारम्भ किया और विदेश से शिक्षा ग्रहण कर लौटे भारतीय अधिक देशभक्त और प्रबल क्रान्तिकारी बने। साहित्य को नये आयाम मिले और नवीन राजनीतिक सिद्धान्तों, संगठनों औश्र आन्दोलनों का आधार तैयार हुआ। संक्षेप में ब्रिटिश प्रभाव ने भारत को मध्य युग से निकाल कर आधुनिक युग में पहुँचा दिया।[60]

राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लगभग आधी शताब्दी बाद तक ब्रिटिश शासकों ने पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता को भारत में स्थापित करने का कोई विशेष प्रयास नही किया। उस समय तक उनका उद्देश्य अपने शासितों पर युरोपीय सभ्यता थोपना नही था। अपितु स्थिर शासन प्रणाली, विधि का शासन और सम्पत्ति की सुरक्षा आदि की स्थापना था जो मैकाले के अनुसार पाश्चात्य सभ्यता का आधारभूत तत्व है।

मुसलमानों के आगमन से शिक्षा व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया। प्रजा की शिक्षा का दायित्व राज्य पर नहीं था। मस्जिदों में मोलवी और पाठशालाओं में पंडित सम्पूर्ण जनसंख्या के छोटे-से हिस्से को शिक्षा देते रहे।

ब्रिटिश आगमन के पूर्व की अराजक स्थिति और आगमन के विध्वंसात्मक परिणामों के फलस्वरूप भारत में शिक्षा की स्थिति ह्रासोन्मुख थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ के समय भारत में शिक्षा की स्थिति शोचनीय थी। प्राचीन और वर्नाकुलर दोनों भाषाओं में ही मुद्रित पुस्तकों का प्रायः पूर्णतः अभाव था। स्वदेशी ग्रामीण स्वावलंबी विद्यालय, चाहे वे ब्राहमणों द्वारा

---

[60] R.C. Majumdar (ed.) **The History and Culture of Indian People**, vol. 5, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1968-69, p. 96.

चलाए जाते हों या फिर मुस्लिम मौलवियों द्वारा, बच्चों की बड़ी संख्या को शिक्षित करने में असफल थे। महिलाओं के लिए शिक्षा का अस्तित्व नहीं था।[61]

भारत में अंग्रजी शिक्षा का प्रारम्भ ऐतिहासिक महत्व रखता है। और अनेक लेखकों के अनुसार, यह निश्चय ही ब्रिटिश शासन का प्रगतिशील परिणाम था। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के लिए मुख्यतः तीन एजेंसियां उत्तरदायी थी- विदेशी ईसाई मिशनरी, ब्रिटिश सरकार और प्रगतिशील भारतीय। प्रायः यह मत व्यक्त किया जाता है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ करने का कारण उसका निहित स्वार्थ था। उन्हें एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो निम्न प्रशासनिक कार्यो में उनका हाथ बंटा सके और भारत में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने का आधार स्तम्भ बन सके- 'एक ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो परन्तु नैतिकता और बौद्धिकता के अभिरूचि और विचारों से अंग्रेज हो।[62] दूसरी ओर कुछ विद्वान इस मत को आधारहीन मानते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य केवल क्लर्क पैदा करना था। उनके अनुसार अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ करते समय ब्रिटिश शासकों का दोहरा उद्देश्य था- उदार शिक्षा का प्रारम्भ और प्रशासन में सहभागिता को प्रोत्साहन।

सीरमपुर के ईसाई पादरियों ने जिनके हाथ में ईसाईमत का चिन्ह, क्रास था, वे पहले लोग थे जिन्होंने भारतीय बालकों के के लिए पाठशालाएं खोलीं। इनका मुख्य कार्य ईसाईमत का प्रचार करना था। प्राशासनिक आवश्यकताओं, व्यापारिक घुसपैठ तथा सस्ते लेखा कामों की आवश्यकताओं के कारण अंग्रेजी सरकार ने 1813 के चार्टर ऐक्ट

---

[61] **Simon Commission Report** Vol. 1, p. 378.
[62] **Simon Commission Report** Vol.,p. 378.

में शिक्षा के सुधार के लिए एक लाख रूपया वार्षिक का प्रावधान किया। राजाराम मोहन राय जैसे कुछ प्रगतिवादी भारतीयों ने सरकार को सुझाव दिया कि यह धन भारतीयों में गणित, प्राकृतिक विज्ञान, दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर रचना, तथा अन्य उपयोगी विज्ञानों के प्रचार पर व्यय करना चाहिए। कम्पनी के पदाधिकारी लगभग दो दशकों तक इसमें आनाकानी करते रहे और अन्त में लोक शिक्षा की समान्य समिति (General Committee of Public Instruction) ने लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में 1835 में लार्ड विलियम बैंटिंक की सरकार से यह निश्चय किया कि यह धन 'केवल अंग्रेजी शिक्षा' पर ही व्यय किया जाय। मैकाले का उददेश्य एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न करना था जो "रक्त और रंग से भारतीय हो परन्तु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मानदण्डों तथा प्रज्ञा से अंग्रेज हो" अर्थात वह ब्राउन रंग के अंग्रेज बनाना चाहता था इसके अतिरिक्त वह भारत से मूर्ति पूजा समाप्त करना चाहता था।

भारत में शिक्षा के इतिहास में वुड के शिक्षा सम्बन्धी घोषणा पत्र (Wood's Educational Despatch) का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस घोषणा पत्र के अनुसार भारतीय शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य भारत में पाश्चात्य संस्कृति प्रसार और सार्वजनिक प्रशासन के लिए उचित तौर पर प्रशिक्षित सेवक प्राप्त करना था।

1882 में लार्ड रिपन ने सर विलियम की अध्यक्षता में 1854 के बाद शिक्षा के क्षेत्र में हुई प्रगति की विवेचना करने के लिए शिक्षा आयोग नियुक्त किया। आयोग ने सिफारिश की कि सरकार द्वारा भारतीय प्राथमिक अथवा उच्चतर शिक्षा संस्थानों को दी जाने वाली सहायता राशि बढ़ा दी जानी चाहिए, जहां भी निजी संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जा सके, सरकार को अपने संस्थान खोलने में अरूचि

दिखाने चाहिए, निजी महाविद्यालयों को उदारता से सहायता राशि दी जानी चाहिए और प्राथमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान और राशि अधिक दी जानी चाहिए जिससे साधारण जनता को शिक्षित किया जा सके। सरकार ने इस आयोग की प्रायः सभी सिफारिशों को मान लिया।

इस प्रकार प्राथमिक स्तर पर शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से और माध्यमिक स्तर तथा उच्चतर स्तर पर अंग्रेजी माध्यम से दी जाती थी। यह अंग्रेजी शिक्षा भारत में रोजगार का एकमात्र मार्ग थी, अतः जो लोग सरकारी विभागों में नौकरी चाहते थे उनके लिए अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करना प्राय अनिवार्य था। जहॉ 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दू पाश्चात्य शिक्षा के प्रति अभिमुख हुए वहीं मुस्लिम जनता के बीच अभी यह लोकप्रिय नहीं हो पायी थी क्योंकि वे पाश्चात्य शिक्षा का स्वभाविक परिणाम धर्म-परिवर्तन समझते थे। अतः वे अभी अपनी प्राचीन शैक्षणिक व्यवस्था से जुड़े रहे जिसमें उर्दू, फारसी और अरबी के माध्यम से मुख्यतः धार्मिक शिक्षा दी जाती रही। काफी समय बाद 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सर सैयद अहमद के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मुसलमान पाश्चात्य शिक्षा में रूचि लेने लगे।

स्त्री शिक्षा जो प्रायः अब तक नगण्य थी, 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस तरफ ध्यान गया। कुलीन भारतीय परिवारों के कुछ सदस्य और इसाई मिशनरी इस क्षेत्र में रूचि दिखाने लगे यद्यपि जनसमुदाय के रूढ़िवादी वर्ग अभी भी इसके विरूद्ध थे, फिर भी 19 वीं शताब्दी के मध्य तक स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कम सफलता मिली। 1882 के हंटर आयोग ने स्त्री शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन देने की सिफारिश की। सरकार द्वारा ये सिफारिशें क्रियान्वित किए जाने के परिणामस्वरूप स्त्री शिक्षण संस्थाओं और छात्राओं की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

अध्याय -3

ब्रिटिश उपनिवेशवाद

अंग्रेजों ने भारत को अमूल्य वरदान दिया जिसने भारतीय जनसंख्या की विभिन्न शक्तियों और वर्गो को एक सूत्र में पिरोने का काम किया। अंग्रेजी शिक्षा में विभिन्न प्रान्तीय भारतीयों को एक सामान्य भाषा प्रदान की और उसे बृहत्तर विश्व के साथ जोड़ दिया। विश्व के विभिन्न भागों की चाहे वह चीन हो अथवा मिश्र, रूस हो या आयरलैण्ड घटनाओं का सीधा प्रभाव भारतीय जनता पर दर्शर्न.य था।

अंग्रेजी शिक्षा भारतीय जीवन की वास्तविकताओं से अलग-अलग रही। इसके माध्यम से भारतीय जीवन, उसकी राजनीतिक दासता और आर्थिक व सांस्कृतिक पिछड़ेपन का सच्चा चित्र पेश नहीं किया गया। भारतीय इतिहास का विकृत रूप पेश किया गया और ब्रिटिश विजेताओं को गौरवपूर्ण सभ्यता का वाहक बताया गया। इससे भारतीयों के राष्ट्रीय गर्व और आत्मसम्मान की भावनाओं को ठेस पहुँची जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में अनेक भारतीय परीक्षण किए गये, जैसे जामिया मिल्लिया, काशी विद्यापीठ, विश्वभारती और गुजरात विद्यापीठ इत्यादि।

भारतीय शिक्षा का चरित्र औपनिवेशिक था जिसकी प्रमुख विशिष्टता तकनीकी शिक्षा का अभाव था। तकनीकी शिक्षा आधुनिक उद्योगों के विकास और उदय की पूर्व दशा होती है। साथ ही शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण वह जनसाधारण तक नही पहूँच पायी और शिक्षित तथा अशिक्षित जनसमुदाय के बीच भाषा और सांस्कृतिक खाई का कारण बनी।

शिक्षा-नीति वास्तव में एक व्यापक सांस्कृतिक नीति का अंग थी जिसका उददेश्य देशीय लोगों को यह महसूस कराना था कि वे सांस्कृतिक दृष्टि से पश्चिम लोगों की तुलना में पिछड़े हुए है। इसने देशीय लोगों की भाषायी, धार्मिक, प्रजातीय, जातिगत तथा जनजातीय

अन्तरों को तूल देकर उनमें फूट डाली और उन्हें आपस में लड़ाने की कोशिश की। इन क्षेत्रों के लोग अब तक गौरव तथा आत्मसम्मान का जीवन जीते आ रहे थे किन्तु अब अचानक ही उनका सामना बन्दूकों तथा मशीनों से लैस श्वेत लोगों से हुआ जो प्रौद्योगिकी की दृष्टि से उनसे बढ़े चढ़े थे। धीरे-धीरे यह सांस्कृतिक प्रभाव अन्य क्षेत्रों में फैलता गया। संम्पूर्ण प्रभाव को फ्रांज फेनन (Franz Fanon) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दुनिया के बदकिस्मत लोग (The Wretched of the Earth) में 'उपनिवेशित (Colonialized) लोगों के मानस पर घातक प्रहार' की संज्ञा दी है।

प्राचीन भारतीय सांस्कृति सामंजस्यपूर्ण संबद्ध तथा पूर्ण थी। उसमें जीवन के किसी भी पक्ष अथवा पहलू की अवहेलना नही की गयी थी। फिर भी इस संस्कृति की उल्लेखनीय चरित्रगत विशिष्टता वह धार्मिक तत्व था जो इसमें मिश्रित था। धर्म-भारतीय विधि व्यवस्था का अभिन्न अंग था। धर्म और संस्कृति आपस में इतने घनिष्ठ सम्बद्ध थे कि अधिकांश भारतीय भाषाओं में प्राप्त रचनाएं भक्ति-भावना से पूरित थीं। कला, जो किसी जन समुदाय की कलात्मक भावनाओं को प्रतिबिम्बित करती है, धर्म से गहरा सम्बन्ध रखती थी। वास्तुकला जिसकी अभिव्यक्ति मंदिरों में हुई और शिल्पकला जो नक्काशी में अभिव्यक्त हुई धार्मिक प्रतीकवाद से प्रेरित थी। धार्मिक तत्व के इस सम्मिश्रण ने एक रहस्यवादी संस्कृति को जन्म दिया जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही संस्कृतियों की विशिष्टता थी।[63]

भारतीय सामाजिक जीवन में पश्चिमी प्रभाव अधिक व्यापक है। इसने कला, स्थापत्य कला, चित्रकला साहित्य, काव्य, नाटक तथा

---

[63] D.P. Mukherjee. **Modern Indian Culture** 1942 ,pp. 2-3

उपन्यास यहां तक कि भारतीय धर्मो तथा दर्शन को भी प्रभावित किया है। इन क्षेत्रों में मार्गदर्शन तो अंग्रेजी सार्वजनिक अधिकारी तथा साहित्यकार थे और यह भावना आगे ले जाने वाला मुख्यतः अंग्रेजी शिक्षित वर्ग था जिसमें प्रायः पत्रकार अध्यापक डाक्टर तथा वकील थे जो भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के अगुआ थे।

पाश्चात्य प्रतिमान ने ही आधुनिक संसार के प्रतिमान सामाजिक शिष्टाचार, पहिनावा, भोजन, खाने के व्यवहार, गृह उपस्कार, रूपांकन, निजी स्वास्थ व्यवहार, आमोद प्रमोद, क्रीड़ा तथा मनोरंजन सभी में हमने न केवल इन प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया है अपितु ये हमारे जीवन का अंग बन गये हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात एक निश्चित प्रयत्न किया गया है कि पारम्परिक पद्धतियों को बढ़ावा मिले। ललित कलाओं नृत्य संगीत वादन इत्यादि को अंग्रेजी राज्य के काल में प्रोत्साहन नहीं मिला और केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात ही इन ललित कलाओं को प्रोत्साहन मिला है और सब यह समस्त संसार की ललित कलाओं को प्रभावित कर रही है विशेषतः भारतनाट्यम, कत्थक, सितार, शहनाई वादन तथा तबला तथा शास्त्रीय संगीत।[64]

अंग्रेजी शासकों ने पुनर्जागरण-पलाजी पद्धति (Renaissance Palazzi Style) के अनुसार नगर भवन बनाए। रेलवे स्टेशन गॉथिक (Gothic) गिरजाघर पद्धति के अनुसार सरकारी भवन तथा सचिवालय पाश्चात्य पद्धति के अनुसार जिनमें कहीं-कहीं पारम्परिक मुगल पद्धति का भी सम्मिश्रण था पाश्चात्य शिक्षित वर्ग ने अपने निजी भवनों में भी इन पद्धतियों की नकल की।

---

[64] वी. एल. ग्रोवर यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास पृ. 463

इसी प्रकार अंग्रेजी शब्द तथा मुहावरे स्थानीय भाषाओं में आ गये हैं; रेलवे स्टेशन, सिनेमा, हास्पिटल, वोट, इलेक्शन, रेस्टोरां, होटल, युनियन तथा सैकड़ों अन्य शब्दों को आज अशिक्षित तथा दूर स्थित ग्रामीण जनता भी सुगमता से समझती और स्वीकार करती है। इसी प्रकार सरकार का उत्तरदायित्व, काम का अधिकार, रोटी तथा मकान, सामाजिक सुरक्षा, मजदूरों को संगठित करने का अधिकार, विधि के सम्मुख समानता, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास इत्यादि का अधिकार अब भारतीय जीवन का अंग बन चुके है।

चूंकि अंग्रजी हस्तक्षेप और विजय का मुख्य कारण आर्थिक था, अतएव यह एक ऐसा क्षेत्र है जहां इनका प्रभाव प्रमुख है। तथा यह सब हानिप्रद और घिनौना है। उन्होंने भारत का संभावित आर्थिक शोषण करने के लिये पूर्ण तथा कपटी मार्ग अपनाये। यद्यपि सबसे अधिक विज्ञान तथा तकनीकी जानकारी रखते थे और उन्होने 200 वर्ष तक भारत में राज्य किया परन्तु जब वे लोग यहां से गये तो 1947 में भारत आर्थिक रूप से अविकसित देश का चित्र प्रस्तुत कर रहा था जिसमें भुखमरी, निर्धनता तथा थोड़ी राष्ट्रीय आय थी और इसके लिए उत्तरदायित्व केवल इंग्लैंड का है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन भारतीय कृषि की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया क्योंकि कम्पनी की आय का सबसे अधिक भूमिकर से ही प्राप्त होता था। कम्पनी ने अधिकाधिक कर प्राप्त करने की इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रयोग किये। उन्होंने 'खुली नीलामी' की पद्धति अपनाई जिसमें अधिकाधिक कर देने वालों को भूमि देदी जाती थी। यह पद्धति सफल नही हुई। कार्नवालिस ने 1793 में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में 'स्थाई भूमि कर व्यवस्था' लागू कर दी। इसके पश्चात बम्बई तथा मद्रास के अधिक भाग में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई

और फिर यू.पी. में महलवाड़ी व्यवस्था (जो जमींदारी पद्धति का परिवर्तित रूप था) लागू की गयी। जमींदारी पद्धति ने 'अनुपस्थित जमींदारों को बढ़ावा दिया। सरकार तथा कृषक के बीच कई अन्य मध्यवर्ती कारिन्दे उपस्थित हो गये जिनसे कृषक पर और बोझ बढ़ गया।

रैयतवाड़ी पद्धति में भी कर अत्यधिक था। समय-समय पर उसे बढ़ा दिया जाता था जिस से भारतीय ग्रामों में व्याज खाने वाले साहूकार अस्तित्व में आ गये। ग्रामीण ऋणग्रस्तता (Rural Indebtedness) , खेती की प्राचीन पद्धति, अपर्याप्त सिंचाई व्यवस्था इन सभी से ग्रामीण लोग अत्यधिक निर्धन हो गये। सूखे तथा अकाल प्राय होते ही रहते थे और जान माल की बहुत हानि होती थी। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 24 छोटे-बड़े अकाल भारत में पड़े और लगभग 3 करोड़ मनुष्य मारे गये।

अंग्रेजों के आने से सबसे अधिक हानि उद्योगों को हुई। भारतीय माल का उत्तम होना और उसकी यूरोप के सभी देशों में मांग से कुछ देश तो बहुत दुखी थे। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की व्हिग सरकार ने भारतीय कपड़े पर अत्यधिक आयात शुल्क लगाये। प्लासी के युद्ध के पश्चात अंग्रेजों ने बंगाल की मण्डियों से अपने विरोधी भारतीय माल के क्रय करने वालों को समाप्त कर दिया और भारतीय व्यापारियों को इतना कम मूल्य देने लगे कि शिल्पियों ने माल बनाना ही बन्द कर दिया और जब 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में आयी अंग्रेजी औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अंग्रेजी माल बनना आरम्भ हो गया और नेपोलियन युद्धों के पश्चात यहां बहुत विदेशी माल आने लगा तो

इस माल को थोड़े से अथवा बिल्कुल नही के बराबर आयात शुल्क के साथ भारत में आने दिया गया।

इस प्रकार भारतीय उद्योग लगभग समाप्त सा हो गया। यह मूल्य था जो हमें स्वतंत्रता खोने का देना पड़ा। यहां तक कि डब्लू. डब्लू. विल्सन ने भी स्वीकार किया कि ब्रिटेन ने राजनीतिक अन्याय द्वारा अपने प्रतिद्वन्दी जिसका वह समता से विरोध करने में असफल था, को दबाए रखा और अन्त में उसका गला घोंट दिया। इसी प्रकार कार्ल मार्क्स ने भी कहा कि अंग्रेजी घुसपैठिये ने भारतीय करघों को तोड़ दिया और चरख़े का सर्वनाश करदिया। पहले इंग्लैंड ने युरोपीय मण्डियों से भारतीय सूती कपड़ा समाप्त कर दिया फिर हिन्दुस्तान में ऐंठन (Twist) का प्रवेश किया और अन्त में सूती कपड़े के देश में सूती कपड़े की बाढ़ लादी। विलियम बेंटिंक की सरकार ने भी स्वीकार किया था कि " भारतीय तंतुवायों की हड्डियां भारत के मैदानों में सूख रही हैं।" इस प्रकार भारतीय हस्तशिल्प का 19वीं शताब्दी में पतन हो गया।[65]

भारतीय उद्योगीकरण की योजना की तो बात ही क्या अंग्रेजों ने प्रयत्न यह किया कि भारत का अनौद्योगीकरण कर दिया जाये। इंग्लैंड का हित इस में था कि भारत को अंग्रेजी उद्योगों के लिये एक कृषि क्षेत्र (Agricultural Farm) बना दिया जाये। अंग्रेजों ने जान-बूझ कर भारतीय अर्थ-व्यवस्था का 'ग्रामीणीकरण' (Ruralization) तथा 'कृषकीकरण' (Peasantization) किया। जो भी उद्योग प्रथम विश्व युद्ध के कारण पनपे, वे 1929-30 की आर्थिक मन्दी (Economic

---

[65] बी.एल. ग्रोवर, " आधुनिक भारत का इतिहास" पृ. 464

Depression) ने समाप्त कर दिये क्योंकि बैंकों के धनों पर अंग्रेजों का ही नियंत्रण था।[66]

यह सत्य है कि कपड़ा, सीमेंन्ट, पटसन, कागज, चीनी, कच्चा लोहा (Pig Iron) आदि उद्योग भारत में आरम्भ हो चुके थे परन्तु देश इस्पात, भारी इंजीनियरिंग तथा धातु उद्योगों में बहुत पीछे था। 'गर्भधारण सिद्धान्त' (Gestation Theory) जिसे आधुनिक आंग्ल-अमेरीकी लेखकों ने लोकप्रिय बनाया, आंकड़ों तथा तथ्यों के वास्तविक विश्लेषण में तो ठहर ही नही सकता। भारत में इंग्लैंड की वास्तविक भूमिका केवल साम्राज्यवादी थी। इंग्लैंड का प्रमुख उद्देश्य केवल आर्थिक शोषण था और श्वेत व्यक्ति का बोझ (Whiteman's Burden) तो केवल उस धन का बोझ था जो अंग्रेज भारत से बाहर ले जाता था।

ब्रिटिश संस्कृति, सभ्यता व अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीयों का ध्यान सामाजिक व्यवस्था व जीवन की कुरीतियों की ओर आकर्षित किया, फलतः समाज सुधार आन्दोलन शुरू हुए। भारतीयों ने बहुदेववाद, जाति-भेद, बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, देवदासी प्रथा और कन्या हत्या आदि के विरूद्ध आवाज उठायी तथा ब्रिटिश सरकार को भी सुधार कानून बनाने के लिए बाध्य किया। अनेक समाज सुधार संस्थओं जैसे ब्रह्म समाज, राम कृष्ण मिशन, प्रार्थना समाज आदि का निर्माण किया गया जिन्होंने जनता और सरकार का ध्यान, सामाजिक जीवन की समस्याओं की ओर आकर्षित किया।[67]

परन्तु यह सभी सुधार आन्दोलन हिन्दूवाद को नष्ट करने अथवा छीड़ करने के लिये न होकर उसे शुद्ध व शक्तिशाली बनाने के लिए

---

[66] वही, पृ. 464-65

[67] सत्या राय, भारत में उपनिवेशवाद तथा राष्ट्रवाद, पृ. 169

चलाये गये थे। जिससे एक नये आत्म-सम्मान, अतीत के प्रति गौरव-भाव, भविष्य के प्रति विश्वास और राष्ट्रभक्ति की भावना का जन्म हुआ। परन्तु इन्ही भावनाओं को हिन्दू-सम्प्रदायवाद का जामा पहनाकर अंग्रेज शासकों ने हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदाययों के बीच एक नयी कटुता व वैमनस्य की भावना को बढ़ावा दिया।[68]

इस प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप दो ऐसी सभ्यताओं का, जो विकास के भिन्न और असमान स्तरों पर थीं, एक दूसरे से सम्पर्क हुआ जिससे एक प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन आना स्वाभाविक था। भारत के सरल समाज को पाश्चात्य सभ्यता की जटिल संरचना का सामना करना पड़ा जिससे उसकी सरलता का भी विघटन प्रारम्भ हो गया। लोगों की आदतें, मत, बल्कि जीवन के ढंग भी परिवर्तित हो गये, परन्तु नस्लगत प्रवृत्तियां नही बदलीं।[69]

संक्षेप में भारत नवीन विचारों और नयी समस्याओं के प्रति जागा। परन्तु उसके जीवन के तरीकों में केवल थोड़ा सा बदलाव आया। भारतीय सामाजिक व्यवस्था अभी भी कायम रही और पारम्परिक शासन का पालन होता रहा। जाति-प्रथा भारतीय समाज की सीमेंट बनी रही और अधिसंख्य जनता के जीवन जाति-प्रथा के नियमों से नियंत्रित रहे। हिन्दुत्व धर्म और जीवन-पद्धति के रूप में पिछले युगों की ही तरह ब्राह्मणों पर आधारित रहा यद्यपि उसमें जो कुरीतियां और कठोरतायें आगयी थीं उन्हें दूर करने का प्रयत्न अवश्य किया गया।

विधि के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम वैयक्तिक विधियों का ब्रिटिश नागरिक विधि के साथ-साथ अनुसरण किया जाने लगा। आर्थिक क्षेत्र

---

[68] वही
[69] Sir Henry Cottop, p. 244.

में पाश्चात्य औद्योगिक प्रक्रिया के साथ प्राचीन औद्योगिक प्रक्रिया देखने में आने लगी। औद्योगिक इकाई के रूप में शिल्पकार और दस्तकार का स्थान आधुनिक आधारों पर संगठित मिल अथवा खानों में काम करने वाला श्रमिक लेने लगा। अंग्रेजी शिक्षा ने शिक्षित व्यत्यिों के दृष्टिकोण को विस्तृत किया और स्तर तथा मापदण्डों को काफी बड़ी सीमा तक बदला।

मुस्लिम समुदाय ने भी अपनी पिछड़ी हुई स्थिति को पहचाना और पुनरूत्थान प्रारम्भ किया। पाश्चात्य सभ्यता के वरदानों को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जाने लगा। ग्रामीण जनता भी बिजली और मोटर का उपयोग करने लगी परन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में ग्रामीण जीवन पाश्चात्य संपर्क से बहुत कम प्रभावित हुआ।

फिर भी ब्रिटिश राज ने भारतीय जीवन और विचारों को 100 साल में उससे कहीं अधिक बदल दिया जितना इसके पहले के राज्यों ने कई शताब्दियों में बदला था। उसने भारतीय इतिहास को नई दिशायें दीं। भारतीय मस्तिष्क को नई आशओं और आकांक्षाओं से भर उन्हें विश्व आन्दोलनों से जोड़ दिया। उनमें यह भावना उत्पन्न की कि मानवता का भविष्य निर्धारित करने में उनका भी हाथ है। यद्यपि यह भी सत्य है कि ऐसी भावना उत्पन्न करना ब्रिटिश शासकों का लक्ष्य कदापि नही रहा होगा। निष्कर्षतः भारतीय शिक्षा, सामाजिक जीवन और संस्कृति पर ब्रिटिश प्रभाव अत्यन्त गहन और व्यापक पड़ा जिसका स्वरूप सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार का था।[70]

---

[70] Natrajan in **Indian Social Reforms**, Bombay (1938).

अध्याय-चार

अमेरिकी साम्राज्यवाद

अमेरिकी साम्राज्यवाद

उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमेरिका का कोई स्थान नहीं था। उसकी विशेष रूचि पश्चिमी गोलार्द्ध को युरोपीय हस्तक्षेप से मुक्त रखने में थी। लेकिन उस काल के अन्त की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से उसे अपने को एकदम अलग रखना बहुत मुश्किल था। शताब्दी के अन्तिम दशक में स्पेनी अमेरिका युद्ध और सुदूर-पूर्व में दिलचस्पी इसी मनोवृत्ति के परिचायक हैं। इस पर भी अमेरिका विश्व राजनीति से बहुत अलग रहा है। उसने 1917 में विश्वयुद्ध में अनिच्छा से प्रवेश किया। पेरिस शाक्ति-सम्मेलन और राष्ट्र संघ की स्थापना में सक्रिय भाग लेने वाला अमेरिका पुनः अपने पारंपरिक पार्थक्यवादी मार्ग पर वापस आ गया। विश्व के प्रथम सुरक्षा के दायित्व से अमेरिका का विरत होना दुर्भाग्य पूर्ण रहा। शन्ति और निःशस्त्रीकरण के कार्यो में उसकी छोटी-छोटी भूमिका कारगर सिद्ध नहीं हुई। इसके परिणामस्वरूप जापान जर्मनी और इटली जैसे देशों की विस्तारवादी नीतियों ने विश्व के समक्ष नयी चुनौतियां ला दी और पेरिस शान्ति-सम्मेलन के समस्त कार्य देखते-देखते ध्वस्त हो गये। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की तरफ देर से अमेरिका युद्ध में प्रविष्ट हुआ और अन्ततः मित्र राष्ट्रों की विजय हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग लिया। साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए विश्व-स्तर पर वह सचेष्ट हो गया। राष्ट्रपति आइजनहावर की इस घोषणा ने कि "नियति ने स्वतन्त्र विश्व के नेतृत्व का दायित्व अमेरिका को सौंपा है" उसकी परम्परागत पार्थक्यवादी नीति को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया। इस प्रकार

उन्नसवीं शताब्दी के अन्त तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नगण्य अमेरिका का प्रथम विश्व युद्ध के बाद महान राज्यों में गिना जाना और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक महाशक्ति के रूप में उभरना विश्व राजनीति का चमत्कारिक विकास है। इस विकास को उसके विश्वव्यापी आर्थिक और राजनीतिक हितों के परिपेक्ष में ही ठीक समझा जा सकता है।[1]

इंग्लैण्ड द्वारा बनाए गये अमेरिकी उपनिवेशों में युरोपीय अप्रवासियों की संख्या बढ़ती गयी। इनके बीच तमाम विशेषताओं के बावजूद कतिपय सामान्य तथ्यों की नींव पर अमेरिकी सभ्यता और अमेरिकी राष्ट्रवाद का बीजारोपण हुआ, जो स्वशासन और कालान्तर में स्वतन्त्रता की मनोवृत्ति के उन्नयन में सहायक हुआ। इन अप्रवासियों ने अपने संघर्ष के लिये सैद्धन्तिक अस्त्र के रूप में अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप एक राजनीतिक दर्शन का विकास किया। नये उपनिवेशों के सामान्य जन के भौतिक विकास का प्रचुर सम्भावनाओं के कारण 'अप्रवासी' के 'अमेरिकीकरण' में कुलीनता का नहीं श्रम और कौशल का ज्यादा महत्व था। इस कारण युरोप में विकसित उदारवादी लोकतान्त्रिक विचारों को अमेरिका में कहीं अधिक स्पष्टता से मूर्त और व्यवहारिक अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकी।[2]

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शासन-व्यवस्था के स्वरूप को लेकर अमेरिकी समाज दो विचारधाराओं में विभक्त था– कुलीनतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक। इन्हीं दो विचारधाराओं के बीच समन्वय और सन्तुलन की परिणति संघीय संविधान था जो उस समय 40 लाख लोगों के लिये

---

[1] राघवेन्द्र पान्थरी महेन्द्र विक्रम सिंह संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास पृ. 1–2
[2] राघवेन्द्र? पान्थरी महेन्द्र विक्रम सिंह संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास पृ. 1–2

बना था और दो शताब्दियों के बाद भी करीब 25 करोड़ लोगों के लिये भी वह उतना ही उपयोगी बना हुआ है। उक्त दो विचारों ने शीघ्र ही दो राजनीतिक दलों का रूप लेलि या-फेडरलिस्ट और रीपब्लिकन। जहां पहली विचारधारा ने अमेरिका के भौतिक विकास की आधारशिला रखी वहीं दूसरी ने अमेरिका को एक पृथक अस्मिता, ओजस्विता एवं गतिशीलता प्रदान की।

संघवादी दल के नेतृत्व के पश्चात रिपब्लिकन राष्ट्रपतियों -जेफरसन, मैडिसन और मुनरो के नेतृत्व में अमेरिकी लोकमन्त्र को प्रमुखता प्राप्त हुई। आन्ग्ल-अमेरीकी युद्ध के पश्चात नयी राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, पश्चिम के प्रसार के साथ वहां बस रहे सामान्य जनों के बीच लोकतांत्रिक विचारधारा और दृढ हुई। अमेरिकी महाद्वीप में युरोपीय साम्राज्य की चुनौती के रूप में 'मुनरो डाक्ट्रिन' से वैदेशिक सम्बन्धों में अमेरिका का राष्ट्राभिमानअभिव्यक्त हुआ यद्यपि इसी काल में मिसूरी में दास प्रथा को लेकर उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच कलह और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा सामने आयी। दास प्रथा, रक्षात्क प्रशुल्क, निरस्त्रीकरण के प्रश्न से उत्पन्न समस्या को पार करते हुए अमरीकी लोकतन्त्र एन्ड्रयू जॉनसन के काल में और अधिक जन व्यापी हुआ इस काल में अनक अधिकार विधान सभाओं से हस्तान्तरित कर प्रत्यक्षतः जनता के हाथों में सौंपे गये।[3]

एन्ड्रयू जैक जानसन के बाद अमेरिकी इतिहास में विचित्र विरोधाभार दिखायी देता है। एक ओर अमेरिका में राष्ट्राभिमान और अपनी संस्थाओं के प्रति गर्व की भावना से प्रसारवाद का जन्म हुआ, जिसका सैद्धान्तिक आधार 'मैनिफेस्ट डेस्टिनी' अथवा 'स्वभाविक

---

[3] वही पृ० 3

नियति' के रूप में दिखाई देता है और दूसरी ओर इसी प्रसारवाद से प्राप्त नवअर्जित क्षेत्रों में दास प्रथा को लेकर उत्तर और दक्षिण में राजनीतिक कलह की परिणति अन्ततोगत्वा गृह युद्ध में हुई, लेकिन अब्राहम लिंकन के कुशल नेत्रृत्व में इस अग्निपरीक्षा से निकल करअमेरिका पुनर्निर्माण की दिशा में प्रवृत्त हुआ।

1865 के पूर्व इतिहास के मुख्य प्रकरण-उपनिवेशीकरण, स्वतन्त्र युद्ध, संतुलन पर आधारित संविधान, राजनीतिक दलों का विकास, पश्चिम में प्रसार, लोकतान्त्रिक प्रणाली का दृढ़ीकरण और अमेरिकी एकता को स्थाई रूप देने के लिये लिंकन का सफल संघर्ष, जो विश्व इतिहास को नयी दिशा प्रदान करते हैं।

इस काल में अभूतपूर्व वैज्ञानिक और प्राद्यौगिक विकास से अमेरिकी जीवन के अनेक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। किस प्रकार एक कृषि प्रधान देश नेऔद्योगिक क्षेत्र में एक शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लिया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नगण्य, कैसे एक महाशक्ति के रूप में उभरा, आधुनिक विश्व इजिहास के अध्ययन का अत्यन्त महत्वपूर्ण और रोचक विषय है। जबकि 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत युनियन पूँजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर एक बिलकुल नयी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, अमेरिका व्यक्तिवादी और लोकतान्त्रिक पद्धति में आस्था रखते हुए विश्व राजनीति की दूसरी धुरी बन गया और 1991 में सोवियत युनियन के विघटन के बाद विश्व राजनीतिक मंच पर एक मात्र महाशक्ति के रूप में उसका उभरना स्वतंत्र उदारवादी व्यवस्था की श्रेष्ठा का द्योतक माना जारहा है।

'अमेरिकन इण्डियन' के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका के सभी लोग बाहर से आये हुए 'आगत' जातियों के हैं, उनकी विशाल संख्या युरोप से आयी थी और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के समयवे अब भी पुराने महाद्वीप से घृणा और प्रेम करते हैं जिससे कि वे नाता तोड़ चुके हैं। युरोप न केवल उनकी सभ्यता की मात्रभूमि है, वरन उनके अनुयायियों का लगभग आधा भाग बसता भी वहीं है। जब कभी युरोप के विनाश का भय होता है तो अमेरिकी लोग चौकन्ने होजाते हैं। जब कभी युरोप पर संकट आता है, तो अमेरिका में भी भारी राजनीतिक संघर्ष उत्पन्न हुए बिना नही रहता। यही कारण है कि यह कहा जाता है, ''अमेरिकी पश्चिम की ओर मुँह करके जन्म लेते है।''[4]

पार्क्स ने लिखा है, '' विश्वशक्ति के रूप में अमेरिका का उत्थान वस्तुतः उसकी भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोतों तथा गतिशील उद्यम तथा उर्जा का परिणाम है।'' अमेरिका की यह गतिशीलताउसकी स्वतन्त्रता के साथ ही उत्पन्न हुई उस चेतना से आबद्ध थी जो अमेरिकी लोगों में श्रेष्ठता और मानवता की भावना जगाये रही थी। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से अमेरिका अपनी स्वतन्त्रता के काल ही से 'पृथकता की नीति'अपनाये रहा था, जो प्रारम्भ में आर्थिक एवं राजनीतिक संस्कृति के स्वतन्त्र विकास की अपेक्षाओं को पूरा करती रही थी।

आर्थिक उद्यमों के विस्तार के लिये तब अमेरिका के पास विशाल महाद्वीपीय क्षेत्र पड़ा हुआ था। भावनात्मक दृष्टि से जहां एक ओर दुर्भावनाओं और दुष्परिवृत्तियों से ग्रस्त पतनोन्मुख पुरातन विश्व की उलझनों से दूर रहकर अमेरिका अपनी नयी और स्वस्थ परम्परा का

[4] बी० एल० फाड़िया, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, पृ० 253

विकास चाहता था, और अमेरिकी लोग पुराने विश्व की उपेक्षा करने में गौरव का अनुभव करसकते थे वहीं दूसरी ओर वह विश्व में अपनी नयी मानवतावादी प्रजातन्त्री संस्कृति के प्रसार और उसके नेतृत्व के लिये पहले अमेरिकी प्रजातन्त्र को और अधिक सुरक्षित, सुदृढ़ और सुन्दर बनाने तथा अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति द्वारा एक आदर्श प्रतिपादित करना आवश्यक समझते थे।

वाशिंगटन और जेफरसन ने अपने देशवासियों को अन्य व्यक्तियों के साथ किसी दुर्भि-सन्धियों में न फंसने की चेतावनी दी थी। जॉन एडमस ने भी युरोपीय मामलों और युद्धों से अलग रहने की सलाह दी थी। क्योंकि इसका अर्थ होता अनायास दूसरों के झगड़ों में फंसका अपनी सुरक्षा के लिये संकट पैदा करना और स्वतन्त्र व्यवहार के आदर्श का परिपालन न करपाना।

19वीं शती के उत्तरार्द्ध से ब्रिटेन में साम्राज्यवादी लेखक रूडयार्ड किप्लिंग के अन्ध महाद्वीप अफ्रीका के विस्तृत के भू-सम्पदा के रहस्योद्घाटनों व लेखों ने युरोपीय शक्तियों के बीच एक नयी साम्राज्यवादी होड़ प्रारम्भ कर दी थी। अमेरिका में भी इस हलचल का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि युरोप के बाहर वह अकेले नयी जागरूक शक्ति था। 1889 में बेंजामिन हैरिसन ने प्रशान्त महासागर में अमेरिका की शक्ति स्थापित करने और इस क्षेत्र को अन्य शक्तियों के हाथ में न जाने देने का सुझाव दिया।

1895 में 'फोरम' में प्रकाशित एक लेख में सीनटर लाज ने कहा, ने 'महान देश भविष्य में अपने विस्तार और वर्तमान में अपनी सुरक्षा के लिये पृथ्वी के सभी बेकार पड़े स्थानों को तेजी से समेटने में लगे हैं। यह एक आन्दोलन है जो सभ्यता का निर्माण और प्रजाति की

उन्नति कराता है। अतः विश्व के महान देशों में से एक अमेरिका को आन्दोलन की पंक्ति से अलग नही होना चाहिये।' (The great nations are rapidly absorbing for their future expansion and for their present defence all the waste places of the earth. It is a movement which makes for civilisation and the advancement of the race. As one of the great nations of the world the U.S. must not fall out of the line of march.)[5] लाज जैसे कुछ अमेरिकी अपने महाद्वीपीय विस्तार या सीमान्तों के प्रसार के ही अगले कदम के रूप में पारसामुद्रिक उद्यमों की अपेक्षा कर रहेथे और 1898 में स्पेन से युद्ध प्रारम्भ होने की पूर्व सन्ध्या को 'ओवर लैन्ड मन्थली'के सम्पादकीय में कहा भी गया कि महाद्वीप को जीतने ने अमेरिकी लोगों को एक शताब्दी तक पर्याप्त रूप से अपने घर में व्यस्थ रखा परन्तु अब जब महाद्वीप जीता जाचुका है, ''हम नये विश्व को जीतने की प्रतीक्षा में हैं '' (The subjugation of the continent had been sufficient to keep the American people busy at home for a century but now that the continent was subdues we are looking for the fresh world to conquer.)[6]

युरोप में 19वीं शती के द्वितीयार्द्ध में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों ने ब्रिटेन के साथ ही अमेरिका को भी प्रभावित किया। इसका कारण विश्व की बदली हुई शक्ति सन्तुलन की स्थिति थी जिसमें जर्मनी का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में अभ्युदय प्रमुख तत्व था।

---

[5] Senator Lodge in **'Forum'**, 1895.
[6] **Overland Monthly** (Editorial), *On the Eve of the War with Spain*, 1898.(स्पेन युद्ध की पूर्व सन्ध्या पर, 1898)

दूसरी ओर सुदूर पूर्व में जापान का भी प्रमुख एशियाई शक्ति के रूप में अभ्युदय और उसकी एशियाई तथा प्रशान्त महासागरीय महत्वाकांक्षाएं अमेरिका को भविष्य के सीधे खतरे का संकेत देने लगी थीं जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अमेरिका प्रशान्त महासागर में में भी अपने सुरक्षा केन्द्रों की स्थापना और सुदूर पूर्वी राजनीति में विशेष भूमिका निभाने के लिये प्रेरित हुआ।

विश्व की बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों से कहीं अधिक स्वयँ अमेरिका की आन्तरिक स्थितियों में होने वाला परिवर्तन विश्व राजनीति में अमेरिका के प्रवेश और साम्राज्यवाद के विकास के लिये विशेष उत्तरदायी हुआ। गृह युद्ध की समाप्ति के अगले दशक तक अमेरिकी लोग अपनी महाद्वीपीय सीमाओं और क्षेत्रों का अन्तिम निर्धारण कर चुकेथे और सम्पूर्ण अमेरिका उन्मुक्त आर्थिक उद्यम और उपलब्धियों के आकर्षण से ग्रस्त हो रहा था।

1870 में अमेरिकी निर्यात का जहां कुल मूल्य 392,000,000 डॉलर था, 1890 में वह 857,000,000 डॉलर और 1900 में 1,294,000,000 डॉलर पहुंच गया। अमेरिकी आयात के सापेक्ष उसके निर्यात में बराबर वृद्धि होती रही। विदेश सचिव ब्लेन प्रकट रूप से व्यापारिक हितों को बढ़ाने का इच्छुक था, जो अमेरिका के लिये सर्वाधिक सुलभ क्षेत्र हो सकता था। पापुलिस्ट आन्दोलन की विभिन्न मांगों में 'फ्री सिल्वर और फ्री क्यूबा' की मांग भी अमेरिका को घरेलू समस्याओं के समाधान बाह्य क्षेत्रों में ढूँढ़ने के लिये स्पष्टतः प्रेरित कर रही थी। 1899 में सीनेटर बेवरिज ने उपनिवेशों की प्राप्ति के लिये तर्क देते हुए कहाः 'आज हम अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा कर रहे हैं और अपनी खपत से अधिक निर्माण कर रहे हैं, अतः हमें अपने उत्पादनों के लिये

बाजार, अपनी पूँजी के लिये नये उद्यम और श्रम के लिये नये कार्य की आवश्यक्ता है'। इसके साथ ही साथ धार्मिक मिशन और इवेंजलाइज़ेशन की भावना भी आर्थिक और राजनीतिक शकितयों के वैदेशिक उपक्रमों में सहायक हो रही थी।

लगभग 19वीं शताब्दी तक अमेरिका की नौसेना मात्र एक तटीय सुरक्षा शक्ति के रूप में रही थी और चिली की नौसेना से भी हीन मानी जाती थी। इसका कारण स्पष्टतः अमेरिका का आत्मकेन्द्रित रहना और अन्य किसी क्षेत्र में नौसैनिक गतिविधियों में भाग न लेना रहा था। इस्थमस नहर के निर्माण के प्रश्न पर ब्रिटेन से हुए क्षणिक विवाद और फिर जर्मनी की बढ़ती हुई नौसैनिक महत्वाकांक्षा से चिन्तित हो 19वीं शती के अन्तिम दशकों में अमेरिका में नौसैनिक शक्ति के विस्तार की मांग बल पकड़ी और वह इस क्षेत्र में पर्याप्त समर्थ बनने के लिए प्रेरित हुआ। नौसेनिक शक्ति को सर्वाधिक महत्व अल्फ्रेड टी महान ने दिया जिसके अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से वही शक्ति विश्व में अपना वर्चस्व स्थापित करने में सफल रही थी जिसके पास सबसे शक्तिशाली नौसेना रही।

1891 में वाष्पन्चालित युद्ध पोतों के निर्माण का कार्य हुआ। नौसैनिक शक्ति के विकास का सीधा सम्बन्ध नये-नये नौसैनिक अड्डों की स्थापना या उन पर नियन्त्रण स्थापित करने से था। फिलीपीन्स और हवाई द्वीप पर अधिकार किया जाना इसी का परिणाम था और हवाई को सीनेटर मार्गन द्वारा प्रशान्त महासागरीय 'जिब्राल्टर' की संज्ञा दिया जाना इस प्रवृत्ति की भैतिक अभिव्यक्ति थी।

अमेरिकी साम्राज्यवाद और विश्वशक्ति के रूप में १९वीं शती के अन्तिम दशकों में प्रतिपादित नयी 'मैनीफेस्ट डेस्टिनी' के सिद्धान्त ने

विशेष भूमिका निभायी। प्रारम्भ से ही अमेरिकी लोग अपने को श्रेष्ठतम और नवीनतम सभ्यता के जनक के रूप में देखते आये थे। वे अमेरिका को स्वतन्त्रता गणतन्त्रवाद और प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का ध्वजवाहक मान रहे थे और अपने राष्ट्रीय हितों से भी ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व कल्याण के लिए नयी पश्चिमी सभ्यता की सुरक्षा का दायित्व अमेरिका पर मानते थे।[7]

अमेरिकी एग्लो-सैक्सन प्रजाति को उस उत्कृष्टतम चेतना से युक्त मानते थे जिसने पश्चिमी युरोप और अमेरिका में प्रजातन्त्रीय मूल्यों की स्थापना की थी और जो सम्पूर्ण विश्व में उसका विस्तार करने में लगी थी। इस प्रजातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण ही 'इवेंजलाइजेशन' को अध्यात्मिक इसाइयत और नागरिक स्वतन्त्रता के अपने दो महान आदर्शो से युक्त एग्लोंसैक्सनों के अहम उत्तरदायित्व के रूप में देखा जा रहा था। स्ट्रॉग ने तो यह नारा भी दिया 'जैसा अमेरिका चलेगा, वैसे ही विश्व चलेगा। (As goes America, so goes the world) सीनेटर बेवरिज ने अमेरिका के साम्राज्यवादी प्रयासों को एक दैवीय औचित्य प्रदान करते हुए कहा कि, "ईश्वर के अदृश्य हाथों ने हमें 'अमेरिका' साम्राज्यवादी नीति अपनाने के निर्देशित किया है।"

गृहयुद्ध के उपरान्त का कूटनीति विकास प्रमुख रूप से दो विदेश सचिवों विलियम एच. सेवार्ड '1861–69' और हैमिल्टन फिश '1869–77' के कार्यो का परिणाम रहा। सेवार्ड जहां सक्रिय और प्रसारवादी नीति का समर्थक था वहीं फिश सभ्य राजनीतिक व्यवहार के परम्परागत आदर्श में विश्वास रखता था। १८६७ में सेवार्ड ने रूस से अलास्का का क्रय करने हेतु उसका मुंह मांगा दाम '72,000,00 डालर'

---

[7] राघवेन्द्र पान्थरी और महेन्द्र विक्रम सिंह, संयुक्त अमेरिका का इतिहास पृ. 180

देने के लिए सीनेट को राजी किया। इसी वर्ष हवाई के पश्चिम में स्थित एक छोटे 'मिडवे द्वीप' को अधिग्रहीत करने में भी सफल रहा।[8]

1880 के दशक में विदेश सचिव ब्लेन ने अमेरिका के गोलार्द्वीप प्रभाव विस्तार के गम्भीर प्रयास किए। ब्लेन का विश्वास था कि उसका देश केरेबियन सागर और प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पूर्वनिर्देशित है और क्यूबा प्युर्टो-रिको तथा हवाई अमेरिकी व्यवस्था के ही अंग है। अतः अधिग्रहण नही तो इन पर नियन्त्रण करना स्वभाविक है। ब्लेन की दृष्टि डोमिनिकन रिपब्लिक में नौसैनिक अड्डा प्राप्त करने और डेनिस वेस्ट इण्डीज को क्रय करने पर भी लगी थी।

इसके अतिरिक्त मुनरो सिद्धान्त के पुनप्रतिपादन द्वारा अमेरिका पहले भी यह संकेत देता रहा था कि पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा उसकी अपनी सुरक्षा के प्रश्न से पूर्णतया सम्बद्ध है और वह इस क्षेत्र में अकेली एक शक्ति है जो आवश्यकता पड़ने पर युरोपीय शक्तियों का प्रतिरोध और यहां अपने हितों का प्रसार करने में समर्थ है। ब्लेन ने लाटिनी अमेरिकी देशों को आमंत्रित कर एक 'अखिल अमेरिकी सम्मेलन का आवहन किया जो उसके द्वितीय सचिव काल '1889' में सम्पादित हुआ।

1895 में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड और उसके विदेश सचिव ओलने ने वेनेजुएला के विरूद्ध ग्रेट-ब्रिटेन की सम्भावित सैनिक कार्यवाही को रोकने में बहुत बड़ी सफलता अर्जित की। वेनेजुएला और ब्रिटेन द्वारा नियन्त्रित ब्रिटिश गायना के बीच सीमा-विवाद को अमेरिका का गोलाद्वीप मामला बताया गया और ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा उसमें किसी सैनिक

---

[8] डा. बनारसी प्रसाद सक्सेना, अमेरिका का इतिहास पृ. 565

शिथिल होने लगा और स्पेन ने क्यूबा वासियों को सीमित आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान करना भी स्वीकार कर लिया। ऐसे समय जब शान्ति स्थापना की स्थितियां बन रही थी फ़रवरी 1898 की दो नाटकीय घटनाओं ने उसे पूर्णतया समाप्त कर दिया और अमेरिका को अपने प्रथम साम्राज्यवादी सैनिक परीक्षण का मौका मिल गया।[9]

सन् 1900 तक अमेरिका अपने पारसामुद्रिक क्षेत्रों से मुक्त साम्राज्य के लिए तीन प्रधान और दीर्घकालिक नीतियां निर्धारित कर चुका था। जिनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध व्यापक अर्थों में विश्व तीन भिन्न क्षेत्रों में था। युरोप के साथ उसकी नीति कूटनीतिक मामलों में उलझें बिना व्यापारिक हितों को प्रोत्साहित करने की थी। अमेरिकी गोलार्द्ध में वह पहले से प्रतिपादित मुनरो सिद्धान्त को 'अखिल अमेरिकीवाद का रूप देना चाहता था और एशियाई क्षेत्रों में उसने उन्मुक्त व्यापारिक नीति (Open door policy) का नारा दिया।

क्यूबा पर नियन्त्रण स्थापित होने और प्यूर्टोरिको के अधिग्रहण से अमेरिका की लातिनी अमेरिकी महत्वाकांक्षा एकाएक बल पकड़ गयी थी। पनामा नहर के निर्माण के मामले में कोलम्बिया के प्रति प्रदर्शित हठधर्मिता ने उसे गति प्रदान की और फिर बेनेजुएला के मामले को लेकर घोषित हुई। १६०४ की "रूजवेल्ट कोरोलरी" ने पुराने मुनरो सिद्धान्त को एक प्रतिरक्षात्मक नीति से बदल कर एक प्रसारवादी नीति का रूप दे दिया जिसके आधार पर अमेरिका ने स्वतः ही अपने गोलार्द्ध में कही भी हस्तक्षेप करने और वहां अपना प्रत्यक्ष या परोक्ष नियन्त्रण स्थापित करने की छूट ले ली। डोमिनिकन रिपब्लिक, निकारागुआ, हैटी क्रमशः इस नीति के शिकार होते गये और आगे

---

[9] राघवेन्द्र पान्थरी और महेन्द्र सिंह संयुक्त राज्य अमरीका का इतिहास पृ. 185

चलकर डालर कूटनीति के प्रारम्भ ने इस क्षेत्र में अमेरिकी प्रभाव को और भी पुष्ट कर दिया।

सुदूर पूर्व में फिलीपन्स पर अधिकार और पर्ल हार्बर में नौसैनिक अड्डे के निर्माण ने अमेरिका की व्यापारिक और राजनीतिक महत्वाकांक्षा को बल प्रदान किया। सन् 1900 में विदेशी मन्त्री हे द्वारा चीन में प्रतिपादित 'उन्मुक्त द्वार नीति' का भले ही बहुत अधिक आर्थिक लाभ नहीं उठाया जा सका परन्तु इन उपक्रमों ने इस क्षेत्र में अमेरिका की राजनीतिक व आर्थिक गतिधियों के विस्तार और उसके विदेशनीति में ही हो चुके मूलभूत परिवर्तन का स्पष्ट संकेत दिया।

इसके साथ ही अमेरिका ने अपनी सैनिक एवं नौसैनिक शक्ति के विधिक्त विकास पर भी ध्यान दिया। सन् 1900–03 के बीच रूट सुधार कार्यक्रमों द्वारा अमेरिका की स्थल सीमा का आधुनिक पद्धति से प्रशिक्षण और संगठन का कार्य प्रारम्भ हुआ और वीसवीं शती के प्रथम दशक में ही अमेरिका एक प्रभावशाली विश्वशक्ति बन गया।

सन् 1904–1905 में मध्यस्थता कर पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा रूजवेल्ट ने केवल नोबुल शान्ति पुरस्कार जीता बल्कि युरोपीय शक्तियों की दृष्टि में उसका महत्व इतना बढ़गया कि 1905–1906 के मोरक्को संकट के समय स्वयँ जर्मनी ने ही अमेरिका से ब्रिटेन और फ्रान्स को "अल्जेसीरास सम्मेलन" के लिये राजी करने की प्रार्थना की। पुनः 1911 के अगादिर संकट के समय अमेरिका ने ब्रिटेन की प्रतिक्रिया का समर्थन कर जर्मनी को आक्रामक होने से रोका। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व से ही अमेरिका एक प्रमुख विश्व शक्ति का स्थान लेने की ओर बढ़ रहा था तथा युरोपीय राजनीति में अभी उसकी

भूमिका अत्यन्त सीमित रही थी और युरोपीय देशों से वह केवल आर्थिक व्यवहारों को महत्व देता रहा था।[10]

प्रथम विश्व युद्ध में भाग लेने से अमेरिका तब तक बचता रहा जब तक कि पश्चिमी युरोपीय शक्तियों का पतन आसन्न नहीं दिखाई दिया और स्वयं अमेरिका को भी अपनी सुरक्षा के लिये संकट पैदा होता न जान पड़ा। वस्तुतः अमेरिका ने इस युद्ध में पश्चिमी शक्तियों को असीमित ऋण देकर इतना बडा आर्थिक दांव लगादिया था कि उनकी पराजय का अर्थ अमेरिका की भी आथिक शक्ति को गम्भीर आघात लगना होता। अन्ततः अमेरिका ने इस युद्ध में सफल हस्तक्षेप और उसकी विजय ने उसे विश्व की सबसे बडी ऋणदाता आर्थिक और राजनीतिक शक्ति या विश्व शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।[11]

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति में एक महान क्रान्ति हुई। प्रथम विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने सदा की शान्ति पार्थक्यवादी नीति का ही अनुसरण किया लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्रष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नयी परिस्थितियों के आगमन के कारण अमेरिका के लिये फिर से पार्थक्यनीति का अवलम्बन करना असंभव हो गया। इसका सर्वोपरि कारण था युद्ध के बाद एक नयी शक्ति के रूप में सोवियत संघ का प्रादुर्भाव।

अमेरिकी प्रशासन ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को खतरे की संज्ञा दी और अपने को विश्व का नेता मानकर संसार का इस खतरे से बचाने के लिये दौड पडा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत सहायता

---

[10] वही, पृ० 185
[11] वही

से जिस तरह पूर्वी युरोप के देशों में साम्यवादी व्यवस्था संगठित की गयी थी उसको अमेरिका ने सोवियत रूस की विस्तारवादी नीति का परिणाम बतलाया। युद्धोत्तर काल में इस प्रकार सोवियत संघ के प्रभाव में जो वृद्धि हुई उससे अमेरिका भयभीत और सशंकित होगया।यह स्वाभाविक था। अमेरिका पूँजीवाद का गढ है और सोवियत संघ के प्रभाव में वृद्धि का अर्थ था अमेरिकी पूँजीपतियों द्वारा सर्वसाधारण के विश्वव्यापी शोषण का अन्त। अतएव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का आधार साम्यवादी प्रभाव के प्रसार को रोकना और यदि सम्भव हो तो उसका पूर्ण विनाश करना था। शीत युद्ध की उत्पत्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि इसके महत्वपूर्ण परिणाम हुए।[12]

कहा गया है, यदि प्रथम विश्वयुद्ध ने ही अमेरिका को युरोपीय देशों से ऋण प्राप्तकर्ता देश से बदलकर ऋणदाता देश बना दिया तो द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति ने विश्व की आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को असीमित रूप से अमेरिका के हाथों में केन्द्रित करने की शुरूआत कर दी।" अमेरिका का ग्रास नेशनल प्रोडक्ट 1942 के 10 बिलियन डॉलर से बढकर 197 तक 700 बिलियन डॉलर के उपर पहुँच गया। मुद्रस्फीति को यदि नजरन्दाज न किया जाय तो यह वृद्धि 300 प्रतिशत से अधिक थी। 1942 से 1968 के बीच राष्ट्रीय आय में 400 प्रतिशत के लगभग बढोत्तरी हुई जबकि विश्व की जनसंख्या का कुल 6 प्रतिशत भार वहन करने वाला यह देश विश्व के सम्पूर्ण वस्तु उत्पादन का 2/3उत्पादित करने लगा। 1942 में 134 मिलियन रही अमेरिका की जनसंख्या 1968 तक 200 मिलियन पहुँच गयी और चीन, भारत तथा

[12] F.L. Schuman, **International Politics** (5th Edition), p. 487.

सोवियत रूस के बाद अमेरिका चौथा बड़ी जनसंख्या वाला देश बन गया।

शक्ति और समद्धि की प्रगति के इस सम्पूर्ण इतिहास में अमेरिका ने १६वीं शताब्दी की प्रकट साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का त्याग तो किया किन्तु उसका स्थान 20वीं शती के आर्थिक साम्राज्यवाद ने ले लिया। अतः द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार की विवेचना निष्प्रयोजन हो गयी और आर्थिक हित प्रकटतः राजनीतिक उपक्रमों का साध्य बन गये। सोवियत रूस के विदेशनीति की आर्थिक व्याख्या करने वाले कुछ वामपन्थी इतिहासकारों की दष्टि में अमेरिकी साम्राज्यवाद में निहित आर्थिक प्रयोजनों ने ही द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्ता और मानवतावाद का सैद्धान्तिक जामा पहन लिया। एल्परोविज ने तर्क दिया कि डालर कूटनीति" के रूप में प्रारम्भ हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपने उस ऐतिहासिक स्वरूप में परिवर्तन कर एक नैतिक अभियान का रूप ले लिया।[13]

अमेरिका की लाटिनी अमेरिकी नीति और मुनरो सिद्धान्त का क्रियान्वयन

1823 में जब राष्ट्रपति मुनरो ने अपने सिद्धान्त की घोषणा की थी तो उसका उद्देश्य स्पष्टत युरोपीय शक्तियों द्वारा अमेरिकी गोलार्द्ध में नये औपनिवेशिक उपक्रमों को रोकना इस क्षेत्र में स्वतन्त्र और प्रजातन्त्र के विकास को संरक्षण देना भी जिसका सम्बन्ध अमेरिका का अपनी सुरक्षा से भी था। परन्तु शायद यह कल्पना भी नही कि यदि वास्तव में कभी परिस्थितियां विपरीत हुई तो अमेरिका किस सीमा तक

[13] गार एल्परोवित्ज, कोल्डवार एसेज न्यूयार्क'

इस सिद्धान्त को क्रियान्वित कर सकेगा? और न ही यह विचार मन में आया था कि यही मुनरो सिद्धान्त आगे चलकर अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रारम्भ की पृष्ठभूमि निर्मित करेगा।

गृहयुद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद 1866 में नेपोलियन के मैक्सिकन साम्राज्य स्थापना के स्वप्न ने अमेरिका के लिए भारी संकट पैदा कर दिया। फिर भी तत्कालीन विदेशमन्त्री सेवार्ड ने दृढ़तापूर्वक दबाव डालकर नेपोलियन को मैक्सिकों में अपनी महत्वाकांक्षा त्यागने के लिए तैयार कर लिया। इस प्रकार के प्रयास से अमेरिका अपने मुनरो सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा बनाए रखने में सफल रहा।

राष्ट्रपति जानसन ने समीपवर्ती और अन्त स्थित समुदायों को युद्ध और छल छद्म के बिना न्यायपूर्वक संघ में मिलाए जाने की आवश्यकता का संकेत किया। साथ ही इस्थिमियन नहर के न्मिर्माण की योजना ने कैरेबियन क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्था की ओर अमेरिका का ध्यान और अधिक केन्द्रित किया। जेम्स जी० ब्लेन सक्रिय और प्रसारवादी नीति का घोर समर्थक था और लाटिनी अमेरिकी क्षेत्र में अमेरिकी हितों के विस्तार को विशेष महत्व दे रहा था। उसका विश्वास था कि क्यूबा प्यूर्टो-रिको तथा हवाई अमेरिकी व्यवस्था के ही अंग है और कैरेबियन तथा प्रशान्त महासागर में अमेरिका के प्रभुत्व की स्थापना निश्चित प्राय है। लातिनी अमेरिका में अमेरिका की शक्ति का प्रभाव का विस्तार ब्लेन के विचार में अमेरिका में हो रहे अतिरिक्त उत्पादन के लिए वैदेशिक बाजारों की प्राप्ति की दृष्टि से अधिक आवश्यक था।

1881 में पहली बार विदेश सचिव बनने पर ही व्लेन ने एक 'अखिल अमेरिकी सम्मेलन' के आयोजन के निमित्त लातिनी अमेरिकी

देशों को निमंन्त्रण भेजे। कांग्रेस द्वारा इस आयोजन को अनुमति दे दिए जाने पर 1889 में राष्ट्रपति हैरिसन के काल में यह पहला अखिल अमेरिकन सम्मेलन" हुआ। ब्लेन ने दो प्रस्तावों पर सम्मेलन की स्वीकति चाही। 1– संयुक्त राज्य और लातिनी देशों को एक कस्टम संघ" में बांधा जाय और 2– गोलार्धीय देशों के बीच उठने वाले विवादों के लिए पंचनिर्णय की स्थायी व्यवस्था का निर्माण किया जाय। इस प्रकार अमेरिका गोलार्धीय प्रभाव विस्तार के प्रकट राजनीतिक उपक्रमों का प्रारम्भ हो गया।

1890 के दशक में पारसामुद्रिक विस्तार का विचार बल पकड़ चुका था। विश्वव्यापी नवसाम्राज्यवाद के इस युग में अमेरिका जहां गोलार्द्धीय राजनीति में अपने एकाधिपत्य को बचाए रखने और उसके विस्तार के लिए संचित्य हुआ वही युरोपीय शक्तियों के नये साम्राज्यवादी कदमों को रोकने की आवश्यकता भी बढी। 1895 में वेनेजुएला और ब्रिटिश गायना के बीच तीव्र हुए सीमा-विवाद ने एक ऐसी ही स्थिति पैदा की। ग्रेट ब्रिटेन सैनिक कार्यवाही के लिए तैयार बैठा था जबकि राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड विदेश सचिव ओलने और अमेरिकी जनता वेनेजुएला के प्रति सहानुभूति रखती भी। राष्ट्रपति ने सैलिसबरी को पत्र लिखकर यह याद दिलाया कि ब्रिटेन मुनरो सिद्धान्त की अवहेलना कर रहा है। क्योंकि गोलार्धीय मामलों में किसी भी युरोपीय शक्ति का हस्तक्षेप और सीमा-विवाद मुनरो सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है। इसके साथ ही ब्रिटेन को कड़े शब्दों में यह बताया गया आज संयुक्त राज्य व्यवहारिक रूप से इस महाद्वीप में सम्प्रभु राष्ट्र है, इसकी अभिप्रेरणा उन जनसमूहों पर लागू कानून है जो इससे प्रतिबद्ध है।"

वेनेजुएला के मामले में अमेरिका की सफलता ने अमेरिका की लातिनी अमेरिकी महत्वकांक्षा को और बल मिला। अब उसकी दृष्टि इस क्षेत्र में स्पेन के बचे खुचे उपनिवेशों क्यूबा और प्यूर्टो-रिको पर केन्द्रित हो गयी। 1895 से ही प्रारम्भ हुए क्यूबा के विद्रोह ने अमेरिका को यह मौका भी दे दिया कि वह मुनरो सिद्धान्त तक ही सीमित न रह कर इस यूरोपीय शक्ति को विस्थापित कर अपने साम्राज्य का विस्तार करे। 1898 का स्पेनी-अमेरिकी युद्ध इसी का परिणाम था। स्पेन से युद्ध में विजय और पेरिस सन्धि ने अमेरिका को बड़ी आसानी से क्यूबा और प्यूर्टो-रिको पर नियन्त्रण प्रदान कर लिया। तदन्तर वह अपने लातिनी साम्राज्य को व्यवस्थित करने और उसको अधिक विकसित करने की ओर उन्मुख हुआ।

अमेरिका अभी स्पेनी युद्ध से ही हुई उपलब्धियों की व्यवस्था में लगा हुआ था कि एक के बाद एक लगातार उठने वाली लातिनी अमेरिकी क्षेत्रों के संकटों में उसको एक दृढ़ और सुविचरित नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। थियोडोर रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका की लातिनी अमेरिकी नीति ने प्रकट औपनिवेशिक उपक्रमों का रूप ले लिया। रूजवेल्ट स्वयं प्रबल साम्राज्यवादी था और शक्ति की राजनीति में विश्वास रखता था। अमेरिका को लाभ पहुँचाने वाले या उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्दर किसी भी महत्वपूर्ण विषय में वह अमेरिका की पूर्ण भूमिका देखना चाहता था। अत अपने पडोसी देशों के प्रति उसकी नीति नैतिकता और आदर्श के बजाय कठोरता और व्यवहारिकता से प्रेरित रही।

रूजवेल्ट कोरोलरी–

रूजवेल्ट ने निश्चय किया कि जब कभी भी किसी अमेरिकी राज्य द्वारा अनुन्तरदायित्वपूर्ण प्रदर्शन हो तो युरोपीय शक्तियों को उसमें हस्तक्षेप करने का मौका न देने के लिए स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका ही उस क्षेत्र में हस्तक्षेप कर स्थिति को अपने नियन्त्रण में ले ले। अत १९०४ में कांग्रेस को दिए गये वकतव्य में उसने कहा, गलत व्यवहार की आदत चाहे अमेरिका या अन्यत्र, अन्तत किसी सभ्य राष्ट्र द्वारा हस्तक्षेप की स्थिति पैदा करती है। और पश्चिमी गोलार्ध में संयुक्त राज्य को मुनरो सिद्धान्त की प्रतिबद्धता के कारण, अपनी इच्छा न रखते हुए भी, इस प्रकार का प्रकट गलत व्यवहार अथवा नपुंसकता का आचरण होने पर एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति का रूप लेने के लिए विवश होना पड़ सकता है।

इस प्रकार अमेरिका ने अपने गोलार्द्ध में कहीं भी हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त कर उसे एक सैद्धान्तिक रूप भी दे दिया। रूजवेल्ट द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का उद्देश्य आर्थिक कम राजनीतिक अधिक था, क्योकि स्वयं विदेश विभाग ने ही इसके बाद से अमेरिकी व्यापारियों और साहूकारों को इस क्षेत्र में पूँजी निवेश के लिए प्रेरित किया जिससे भविष्य में अमेरिकी हस्तक्षेप को व्यक्तिगत हित सुरक्षा का आधार भी प्राप्त हो सके। दूसरी ओर लातिनी अमेरिकी देशों की दृष्टि में अमेरिका द्वारा हस्तक्षेप की सम्भावना युरोपीय देशों के हस्तक्षेप से कहीं अधिक थी। 1903 में ही अर्जेण्टिना के विदेश मंत्री लुई ड्रैगो ने इस प्रकार की अशंका व्यक्त करते हुए घोषित किया था कि हस्तक्षेप चाहे किसी प्रकार का हो और चाहे किसी भी शक्ति द्वारा हो, उसे प्रभावित देश की सम्प्रभुता का उल्लंघन ही माना जायेगा। जो भी हो, एजवेल्ट के द्वितीय राष्टपतित्व काल 1905-1909 के बीच अमेरिकी

इतिहास के योग्यतम विदेश मन्त्री एलिह रूट के प्रयत्न स्वरूप अमेरिका के लातिनी अमेरिकी देशों से सम्बन्ध में पर्याप्त हुआ।

1905 में डोमिनिकन रिपब्लिक ने फ्रांस और इटलो से लिए गये ऋणों की समय से भरपायी करने में असमर्थता प्रदर्शित की और इन युरोपीय देशों द्वारा वहां हस्तक्षेप की सम्भावना पैदा हुई तो रूज़वेल्ट कोरोलरी को पहली बार व्यवहार में लाया गया। डोमिनकन गणतन्त्र की सरकार की सहमति से अमेरिका ने वहां की वित्तीय व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। युरोपीय बैंकरों के ऋणों को अमेरिकी बैंकरों के पास हस्तान्तरित कर दिया गया। अमेरिकी अधिकारी राजस्व उगाही में लगा दिए गये। जिसका एक भाग सरकार के खर्च के लिए रखा गया और शेष ऋणों की अदायगी के लिए। इस प्रकार डोमिनिकन गणतन्त्र की राजनीतिक स्वतन्त्रता तो बनाए रखी गयी परन्तु उसकी अर्थव्यवस्था का पूर्णतया अमेरिका के नियन्त्रण में चला जाना उसकी सम्प्रभुता का प्रकट सीमितीकरण था।[14]

रूज़वेल्ट के ही काल में 1906 में क्यूबा में विद्रोह होने पर प्लैट संसोधन के अन्तर्गत अमेरिका को वहां पुन सैनिक हस्तक्षेप करना पडा और इस बार अमेरिकी सेनाएं 1909 तक डटी रहीं।

राष्ट्रपति टैफ्ट और उसके विदेश सचिव नॉक्स के काल में अमेरिका के सम्बन्ध लातिनी अमेरिकी देशों से सुधरने के बजाय और बिगड़े। नॉक्स डामिनिकन गणतन्त्र जैसा वित्तीय नियन्त्रण अन्य देशों मे भी लागू करना चहता था, इत इस क्षेत्र में अमेरिकी पूँजी निवेश को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया गया जिससे अमेरिका सीधे-सीधे अपने आर्थिक हितों को सुरक्षित करने के नाम पर वहां हस्तक्षेप कर सके।

---

[14] डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना, अमेरिका का इतिहास पृ० 509

इस कूटनीति को इतिहास में डालर कूटनीति का नाम दिया गया। इसका प्रयोग 1911 में निकारागुआ में हुआ जब अमेरिकी बैंकरों ने उसकी वित्तीय व्यवस्था का नियन्त्रण में ले लिया और 1912 में विद्रोह को रोकने के लिए वहां अमेरिकी नौसेना भी भेज दी गयी। यह हस्तक्षेप 20 वर्षो तक बना रहा। अमेरिका ने छल और कूटनीति से अपने मित्रों या पिट्ठुओं को चुनावों में जिताकर निकारागुआ की सरकार में बनाए रखा। फिर भी अमेरिका के प्रभाव में बनी सरकारें अपेक्षाकृत ईमानदार रहीं और इस नियन्त्रण के दौरान वहां अमेरिकी पूंजी निवेश मे क्रमश कमी ही हुई।

वुडरो-विल्सन का आदर्शवाद और हस्तक्षेप 1913–1921

वुडरो विल्सन सिद्धान्त साम्राज्यवाद का विरोधी था। अक्टूबर 1913 के अपने मोबाइल भाषण में उसने स्पष्ट कहा था कि, संयुक्त राज्य अब एक भी फुट अतिरिक्त भूमि विजित नही करेगा। और उसकी विदेशनीति भौतिक लाभों से प्रेरित नहीं होगी। परन्तु पार्क्स ने लिखा है कि प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने और जर्मनी की विजय की आशंका ने कैरेबियन क्षेत्र में अमेरिका का नियन्त्रण मजबूत करने की आवश्यकता पैदा की जिसके परिणामस्वारूप विल्सन ने इस घोषित आदर्श के बावजूद उसके राष्ट्रपतित्व काल में अमेरिकी हस्तक्षेप में वद्धि ही हुई। इसके पीछे एक कारण यह भी था कि इस काल में अमेरिका की कैरेबियन नीति अधिकतर विदेश और नौसैनिक विभाग द्वारा ही संचालित रही। युद्ध की परिस्थितियों में ही 1916 में डेनमार्क से वर्जिन द्वीप खरीदे गये।

1915 में हैती में विद्रोह शुरू हुए। इस समय अमेरिकी नौसेना ने हस्तक्षेप कर वहां गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना करवायी। हैती में

स्थानीय सरकार ही पदारूढ रही परन्तु वास्तविक नियन्त्रण नौ सेना के हाथ में रहा जो 1934 तक वहां पड़ी रही। इस बीच हैती में सड़कों आदि का निर्माण तथा शिक्षा और स्वास्थ का विकास के उपाय करके अमेरिका ने एक अच्छी साम्राज्यवादी शक्ति सिद्ध होने का प्रयत्न किया।

1916 में डामिनिकन गणतन्त्र की सरकार और वहा। नियुक्त अमेरिका के वित्तीय अधिकारियों में विवाद होने पर अमेरिकी नौसेना ने वहां पहूँच कर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लिया जो 1924 तक बना रहा।

1917 में क्यूबा में भी अमेरिकी नौसेना का तीसरी बार नियन्त्रण स्थापित हुआ जो 1922 तक रहा। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के होते-होते चार मध्य अमेरिकी गणतन्त्र और क्यूबा अमेरिका के सैनिक नियन्त्रण के अधीन किए जा चुके थे, कयोंकि इसके बाद से अमेरिका ने इस क्षेत्र में शक्ति की राजनीति छोड़ने और एक अच्छे पडोसी का आचरण अपनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

कांग्रेस को 8 जनवरी सन 1818 ई० को जो विलसन ने अपने उददेश्यों को सुस्पष्ट रूप से संसार के समझ प्रस्तुत किया। इनको आज भी विल्सन के चौदह सार (Fourteen Points) नाम से स्मरण किया जाता है। ये इस प्रकार थे-

1- शांति सम्बन्धी सन्धियां प्रकट रूप से सम्पन्न हों

2- समुद्रों पर बिना रूकावट के यातायात हों

3- यथा सम्भव राष्ट्रों के मध्य आरक्षित व्यापार हो

4- जनता के ही हित में अपनिवेशों पर दालों का निपटारा हो

5- अस्त्रशस्त्रों का न्यूनीकरण हो

6– रूस के साथ मैत्री एवं न्यायपरक व्यवहार हो

7– बेल्जियम का पुनरूद्धार हो

8–सन् 1870 ई० वाली ऐलसेस लोरेन सम्बन्धी फ्रान्स के प्रति अनैतिकता का संसोधन हो;

9– जाति अनुकूल ही इटली की सीमाओं का संयोजन हो।

10– आस्ट्रिया हंगरी की जनता को अत्यधिक स्वधीनता दी जाय;

11– सर्बिया और रोमानिया का पुनरूद्धार हो;

12– तुर्की की पुनर्व्यस्था हो;

13– राष्ट्रों का एक ऐसा संगठन हो जिसके द्वारा छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को पारस्परिक स्वतन्त्रता की गारन्टी हो सके।[15]

विल्सन ने अन्तिम सार पर अधिक बल दिया, जिसका अर्थ था अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना। विल्सन की लोकतन्त्र की व्यवस्था थी- राष्ट्रों को अपने भाग्य निर्णय का स्वयं अधिकार और शान्ति में निष्ठा।

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्र हताश हो चुके थे अन्तत अमेरिका युद्ध में अभूतपूर्व तैयारी के साथ कूदा 8 जनवरी सन् 1918 को विल्सन ने अपने उपरोक्त उद्देश्यों को जर्मनी के संमुख प्रस्तुत किया। अक्टूबर में जर्मनी उक्त सारों के साथ सन्धि करने को तैयार हो गया। 11 नवम्बर को जर्मनी ने सब शर्ते मान ली तथा युद्ध विराम की घोषणा हो गयी।[16] सन्धि कार्य पहले तो एक विशिष्ट समिति (Supreme Council) को सौंपा गया। इसके दस सदस्य थे। सन्धि का व्यौरा अत्यन्त व्यापक था। विषयों के अनुसार इसको पाँच अंशों में

---

[15] डा० बनारसी प्रसाद सक्सेना अमेरिका का इतिहास पृ० 557
[16] वही पृ० 562

बांटा जा सकता है 1– युरोप में क्षेत्रीय व्यवस्था 2– जर्मन सैनिक शक्ति का विनश 3– जर्मनी और उसके सहयोगियों द्वारा हानि की क्षति पूर्ति 4– जर्मनी के उपनिवेशी तथा अधीनस्थ देशों का बंटवारा और 5– राष्ट्र संघ का निर्माण

विल्सन की महान उपलब्धि भी राष्ट्र संघ का संगठन। इसके साथ ही मानव के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है।[17] विल्सन के परवर्ती राष्ट्राध्यक्षों ने उसके पदचिन्हों पर चलकर विश्व रंगमंच पर अप्रत्यक्ष प्रभुत्व स्थापित करने का निरन्तर प्रयास किया। नवम्बर 1920 में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ और रिपब्लिकन सदस्य वारेन हार्डिंग नये राष्ट्रपति चुने गये। मार्च 1921 में नये राष्ट्रपति ने घोषणा की कि अमरीका राष्ट्र संघ में भाग नहीं लेगा। राष्ट्रपति हार्डिंग ने पुनः अमरीकी पथकतावाद की नीति अपनायी। मार्च 1933 में फ्रेकलिन डी० रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिकी विदेशनीति स्पष्ट रूप से पृथकतावाद से शनैः शनैः अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख होने लगी। 7 दिसम्बर 1941 को जब एकदम आकस्मिक रूप से जापान ने पर्ल हार्बर पर प्रलयंकारी बम वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को जापान के विरूद्ध अमरीकी कांग्रेस द्वारा युद्ध की घोषणा कर दी गयी और तीन दिन बाद ही अमरीका को जर्मनी इटली के साथ भी उलझ जाना पडा।[18]

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अमरीका ने अपने को एकदम नयी स्थिति में पाया। इस महायुद्ध ने जर्मनी जापान और इटली की शक्ति को नष्ट कर दिया तथा ब्रिटेन एवं फ्रान्स को इतना अधिक कमजोर बना दिया गया कि वे द्वितीय श्रेणी की शक्तियां मात्र रह गये।

---

[17] वही पृ० 563
[18] वही पृ० 563

अमरीका ने पाया कि युद्ध के बाद वह न केवल विश्व की महानतम शक्ति है अपितु साम्यवाद और सोवियत संघ विरोधी पश्चिमी दुनिया का प्रधान संरक्षक और नेता भी है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अमरीकी विदेश नीति का प्रधान लक्ष्य साम्यवादी खतरे का सामना करने और सोवियतसंघ और साम्यवादी चीन के प्रभाव क्षेत्र की वृद्धि को रोकने की दढ व्यवस्था करना रहा है। इसके लिए उसने अलगाववाद का परित्याग कर न केवल युरोप के मामलो में रूचि ली वरन् सुदूरपूर्व मध्य पूर्व दक्षिण पूर्वी एशिया और अफ्रीका के मामलों में सक्रिय दिलचस्पी ली।

राष्ट्रपति ट्रूमैन और अमरीकी विदेशनीति 1945—1952
(President Truman And U.S. Foreign Policy 1945-1952)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी प्रशासन की बागडोर राष्ट्रपति ट्रूमैन के हाथों में आयी। ट्रुमैन ने. अमरीकी विदेशनीति की जो आधारशिलाएं रखी वे आज भी न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ अमरीकी विदेशनीति का मार्गदर्शक बनी हुई हैं।

ट्रुमैन सिद्धान्त- अवरोध का राजनीतिक सिद्धान्त- मध्यपूर्वी क्षेत्र में युनान तुर्की इरान आदि देशों को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने इन्हें आर्थिक सहायता देने की नीति अपनायी; इस नीति को टमैन सिद्धान्त कहा जाता है। ट्रुमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राप्त विपुल आर्थिक सहायता के बल पर 1950 के अन्त में युनान और तुर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

ट्रूमैन नीति (Truman Doctrine) ने घोषणा की कि जहां कही भी शांति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्य होगा, उसे

अमरीका की सुरक्षा के लिए खतरा माना जायेगा। अमरीका उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करेगा। इस सिद्धान्त ने अमरीकी विदेशनीति में मौलिक परिवर्तन को जन्म दिया उसे विकास की एक नयी दिशा दी। माइकेल डोनेलन के शब्दों में 'ट्रूमैन सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त था।' इसने पुराने सिद्धान्त का विस्तार स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक कर दिया।[19] विश्व राजनीति में इसके प्रभाव निम्नवत है :

(1) यह सिद्धान्त साम्यवाद के अवरोध की नीति के विकास का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण था। यद्यपि ट्रूमैन ने सोवियत संघ का कही उल्लेख नहीं किया था तथापि सर्वाधिकारवादी और स्वतन्त्रता का उदाहरण करने वाले राज्य से किस देश का अभिप्राय था यह सारा विश्व भली भांति जानता था।

(2) ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धांत का वृहत और विश्वव्यापी रूप था। मुनरों सिद्धान्त का कार्य क्षेत्र पश्चिमी गोलर्द्ध था लेकिन ट्रूमैन सिद्धान्त ने पश्चिम के साथ पूर्वी गोलार्द्ध को भी अमरीका का कार्य क्षेत्र बना दिया।

(3) यह इस बात का प्रतीक था कि अमरीका ने सोवियत संघ के साथ मैत्री बढाने की रूज़वेल्ट की नीति को अन्तिम रूप से त्याग दिया था।

(4) यह इस बात की स्पष्ट स्वीकृति थी कि विश्व सैद्धान्तिक रूप से दो गुटों में बॅट गया है।

---

[19] दीनानाथ वर्मा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पृ० 158

(5) इसे एक प्रकार से शीत युद्ध (Cold war) का उदघाटन कहा जा सकता है। क्योंकि यह सिद्धान्त इस तथ्य का स्पष्ट स्वीकृति था कि भूमध्य सागर और मध्यपूर्व में उत्पन्न हुई 'शक्ति-शून्यता' का सोवियत संघ द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमरीका इच्छुक है।

(6) यह सोवियत संघ को स्पष्ट चुनौती था कि उसको अपने प्रभाव का विस्तार करने की महत्वाकांक्षाओं को सहन नहीं किया जायेगा।

ट्रूमैन सिद्धान्त को कुछ लोग साम्राज्यवाद का एक नया रूप या डालर कूटनीति (Dollar Diplomacy) के नाम से पुकारते है। आलोचकों का कहना है कि अमरीका द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा के नाम पर सहायता देना कोरा ढोंग था। ट्रूमैन जनतन्त्र की नहीं वरन जनतन्त्र के नाम पर मध्यपूर्व के तेल की रक्षा करना चाहता था। अपने भाषण में उसने स्वीकार किया था कि यदि रूसिय्रों का ईरान के तेल पर अधिकार हो गया तो विश्वसन्तुलन विगड जायेगा।"[20]

मार्शल योजना- अवरोध की आर्थिक रणनीति- मार्शल योजना इस धारणा पर आधारित थी कि महायुद्ध के परिणामों से ध्वस्त युरोप यदि शीघ्र ही अपना आर्थिक पुननिर्माण नहीं करेगा तो वह साम्यवादी विचारधारा का शिकार हो जायेगा। 26 अप्रैल 1947 को युरोप का दौरा समाप्त करके वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर जोर दिया कि युरोपीय देशों को तुरन्त आर्थिक सहायता प्रदान किया जाय अन्यथा

---

[20] दीनानाथ वर्मा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ० 158

उनके साम्यवादी हो जाने का खतरा हो जायेगा। परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमैन ने मार्शल द्वारा दिये गये सुझाव के अनुसार पश्चिमी युरोपीय देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण तथा इन देशों में व्याप्त बेकारी भुखमरी, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्थाओं को समाप्त करने के उद्देश्य से मार्शल योजना शुरू की। ब्रिटेन और फ्रान्स की पहल पर जुलाई 1947 में पेरिस में 16 युरोपीय देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें युरोप के आर्थिक पुनरूद्धार के लिए एक चार-वर्षीय कार्यक्रम तैयार किया गया। यह योजना युरोपीय रिलीफ प्रोग्राम (European Relief Programme) कहलायी। इसके अन्तर्गत चार वर्ष 1947 से 1951 में अमरीका ने युरोप को 12 बिलियन डालर की सहायता दी जिसके बल पर एक ओर तो पश्चिमी युरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी अधिपत्य से बच गया और दूसरी ओर अमरीका पश्चिमी जगत पर सर्वमान्य नेता बन गया।[21]

मार्शल योजना को समसामयिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक दिलचस्प और युग-प्रवर्तक घटना कहा गया है ये योजना ट्रूमैन सिद्धान्त की पूरक भी और इसने साम्यवाद के अवरोध की नीति को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया।

प्रथम, जहां ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गयी थी वहां मार्शल योजना में युरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

द्वितीय, इसने अवरोध की नीति में आर्थिक तत्वों के महत्व को स्पष्ट कर दिया।

---

[21] बनारसी प्रसाद सक्सेना, अमेरिका का इतिहास पृ० 661

तृतीय इसके द्वारा प्रथम अमरीकन आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप प्रदान किया गया। सैनिक सन्धियों की निीति राजनीतिक और आर्थिक प्रयत्नों के साथ सैनिक रणनीति के माध्यम से भी अमरीकी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न करने लगा। मई, 1948 में सीनेट ने 64 के विरूद्ध 4 मतों से ब्रैण्डेनवर्ग का एक प्रस्ताव स्वीकार किया। इसके माध्यम से अमेरिका द्वारा शान्तिकाल में पश्चिमी गोलार्द्ध से बाहर की शक्तियों के साथ सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी समझौतों में सम्मिलित होने की व्यवस्था की दृष्टि से की गयी थी कि अमरीका में शान्ति बनी रही तथा इसकी सुरक्षा सुदृढ़ हो। इसका पहला परिणाम नाटो की सन्धि था। इसके साथ ही नवम्बर 1949 में युरोपियन देशों की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए तथा उन्हें नवीनतम रण-सामग्री से सुसज्जित करने के लिए पारस्परिक प्रतिक्षा सहायता का कार्यक्रम पास किया गया। अक्टूबर 1951 में पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून पास हुआ। इसके अनुसार अमरीका के साथ सैनिक सन्धि करने वाले देशों की सहायता के लिए 7 अरब 33 करोड डालर की सहायता की व्यवस्था की गयी। इनमें 4 अरब 81 करोण 10 लाख तो सैनिक सहायता के लिये थे और आर्थिक सहायता के लिए। इसके बाद संयुक्त राज्य अमरीका ने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियां करके इन्हें सहायता देना शुरू किया। 8 सितम्बर 1951 को अमरीका ने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिए प्रतिरक्षा समझौता किया। 11 सितम्बर 1952 को प्रशान्त महासागर में शान्ति बनाए रखने के उददेश्य से आस्टेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ सुरक्षा सन्धियां की।

1948-49 में साम्यवादियों द्वारा चेकोस्लोवाकिया में बलपूर्वक सत्ता हस्तगत करना, बर्लिन का घेरा तथा चीन में साम्यवादी शासन

की स्थापना ने अमेरिका को बेचैन कर दिया और उसे यह भय हो गया कि उपनिवेशों या नव-जागत देशों में बसने वाले लोग कहीं चीन का अनुसरण करके जनतन्त्र की अपेक्षा साम्यवादी व्यवस्था को न अपना ले। अतएव राष्ट्रपति ट्रूमैन ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के उददेश्य से चार-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ही अविकसित देशों को आर्थिक और तकनीकी सहायता देने की नीवं पडी जो आज तक विद्यमान है। कहा जाता है अमरीका ने इस कार्यक्रम को नि स्वार्थ की अपेक्षा अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अपनाया, क्योंकि शीत युद्ध में उसे नव-जागृत राज्यों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था। ट्रूमैन द्वारा घोषित अमरीकी विदेशनीति का चार-सुत्री कार्यक्रम (Four point programme) इस प्रकार था

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन
(2) विश्व के आर्थिक पुनरूद्धार के लिए कार्य करते रहना
(3) आक्रमण के विरूद्ध स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनानाा
(4) अल्प विकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।

कोरिया युद्ध 1950-53 साम्यवाद से खुला संघर्ष की प्रवत्ति थी। इस अवधि में अवरोध नीति के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्व देते हुए अमरीका ने फिलीपाइन्स तथा जापान के साथ प्रतिरक्षा सन्धियां की।

राष्ट्रपति आइजनहॉवर और अमरिका (1953–1960)
(President Eisenhower and US Foreign Policy, 1953-60)

1953 में 24 वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने व्हाइट हाउस में प्रवेश किया। लेकिन आइजनहॉवर ने अमेरिकी विदेशनीति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। हिन्द चीन, स्वेज, हंगरी, बर्लिन और कांगो की समस्याओं ने उन्हें पूर्ववत् साम्यवाद के प्रचार के विरूद्ध सैनिक सन्धियों के जाल का विस्तार, मित्रों को सैनिक सहायता देने, सोवियत संघ और चीन के समीपवर्ती देशों व अन्य अल्पविकसित देशों को आर्थिक सहायता देते रहने और अमरीकी सेना का आधुनिकीकरण करने की नीति पर चलते रहने के लिये बाध्य किया।

1956 में स्वेज नहर संकट समाधान के उपरान्त मध्य पूर्व में 'शक्ति शून्यता'(Power vacuum) पैदा थी अतः अमेरिका ने इस शक्ति शून्यता को भरना चाहा और इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिये आइजनहॉवर का सिद्धान्त (Eisenhower Doctrine) प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर का प्रस्ताव था कि :

1) मध्य पूर्व के राष्ट्रों की सुरक्षा, प्रादेशिक अखण्डता और स्वतंत्रता के लिये संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं का प्रयोग किया जासके, लेकिन ऐसा तभी होगा जबकि कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से आतंकित होकर इसके लिये प्रार्थना करेगा;

2) संयुक्त राज्य अमेरिका, मध्य पूर्व के राष्ट्रों के आर्थिक विकास में योगदान दे;

3) मध्य पूर्व के राष्ट्रों को सैनिक सहायता दी जाये।

यह सिद्धान्त पश्चिम में लीबिया से लेकर पूरब में पाकिस्तान और उत्तर में तुर्की से लेकर दक्षिण में अरब प्रायद्वीप पर लागू किया गया। मार्च 1957 में इसका समर्थन करके 200 मिलियन डालर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

इस सिद्धान्त का सोवियत संघ और अन्य अनेक एशियाई देशों ने घोर विरोध किया। नेहरू ने उसे उपनिवेशवाद की ओर प्रत्यावर्तन की संज्ञा दी। सीरिया और मिस्र ने इसे अरब राष्ट्रीयता को कुचलने वाला तथा इजराईल को अरब के विरूद्ध आक्रमण के लिये प्रोत्साहित करने वाला सिद्धान्त कहा।

आइजनहॉवर सिद्धान्त मध्यपूर्व से सम्बन्ध रखने वाले ट्रूमैन सिद्धान्त का विकसित रूप कहा जाता है क्योंकि ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति यह भी अमरीका के नवीन साम्राज्यवाद का सूचक था जिसका मुख्य लक्ष्य मध्यपूर्व में ब्रिटेन के पलायन से उत्पन्न हुई शक्ति शून्यता (Powr Vacuum) की पूर्ति करना थी।

राष्ट्रपति कैनेडी और अमरीकी विदेश नीति (1960-63)
(President Kennedy and US Foreign Policy : 1960-63)

नवम्बर 1960 में जान एफ कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति बने। कैनेडी ने अपने पूर्वाधिकारी के विपरीत साम्यवाद के प्रति सहयोग का नारा बुलन्द किया। लेकिन वह साम्यवादी राष्ट्रों के प्रति सचेत थे।

केनेडी शासनकाल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विश्व राजनीति को प्रभावित करने वाली घटना क्यूबा की थी। क्यूबा मध्य अमरीका में वेस्ट इन्डीज का सबसे बडा टापू है। 1959 से पूर्व वहां अमरीका समर्थित सरकार थी। परन्तु 2 जून 1968 को फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व

में हुई साम्यवादी क्रान्ति ने तख्ता पलट दिया और क्यूबा अब सोवियत संघ का समर्थक बन गया। क्यूबा में कास्त्रो की साम्यवादी सरकार को सोवियत संघ ने आणविक शस्त्रों तथा प्रक्षेपास्त्रों से लैस करना शुरू कर दिया। क्यूबा में रूसी सैनिक अड्डे की स्थापना अमरीका की सुरक्षा के लिये बहुत बडा संकट थी, क्योंकि क्युबा मुख्य अमरीकी भूमि से केवल 90 मील की दूरी पर स्थित है। कैनेडी ने क्यूबा में सैनिक अड्डे की स्थापना की निन्दा करते हुए अक्टूबर 1962 में क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा की जिसका उद्देश्य अमरीकी जहाजों द्वारा क्यूबा को घेर लेना था ताकि वहां सोवियत संघ से भेजी जाने वाली सैन्य सामग्री न पहुँच सके। कैनेडी का यह कदम सोवियत संघ के लिये एक स्पष्ट चुनौती था कि या तो वह क्यूबा की सैनिक सहायता बन्द करे अथवा युद्ध के लिये तैयार होजाये। ख्रुश्चेव ने क्यूबा से सोवियत सैनिक अड्डे उठा लेना स्वीकार कर लिया।

कैनेडी ने क्यूबा संकट' से यह सबक सीखा कि लैटिन अमरीकी राज्यों को साम्यवाद या कास्त्रोवाद का शिकार न होने देने लिए यह जरूरी है कि उन राज्यों में संयुक्त राष्ट्र के विम्ब को सुधारा जाय। उन्हें खुलकर आर्थिक सहायता दी जाय। जिससे कि वे विकसित होकर अपने पैरों पर खड़े हो सके। इसी उद्देश्य से कैनेडी ने 13 मार्च 1961 को अमरीकन गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के सम्मुख प्रगति के लिए मैत्री (Allaince for progress) का प्रस्ताव रखा। इस नीति के अन्तर्गत अमरीका ने लैटिन अमरीका के देशों के आर्थिक विकास और जीवन-स्तर को उन्नत बनाने के लिए 50 हजार मिलियन डालर की सहायता तथा ऋण देने का प्रस्ताव रखा।

केनेडी विश्व-शान्ति की सुरक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण विश्व संगठन मानते थे। 1960 में संयुक्त राष्ट्र ने कांगों में, जिसे उसी वर्ष बेल्जियम के शासन में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी शान्ति एवं राष्ट्रीय एकता की स्थापना का भार अपने उपर ले लिया। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्र को करोणों डालर व्यय करने पड़े। इस विशाल व्यय का अधिकांश भार अमरीका ने वहन किया और अपने इर्द-गिर्द वर्चस्व कायम रखने का हर सम्भव प्रयास किया।

राष्ट्रपति जानसन और अमेरिकी नीति 1964–68
(President Johnson and American policy 1964,68)

22 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी के हत्या के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिण्डन बी० जानसन संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति बने जानसन की विदेशनीति काफी विवादास्पद रही, वियतनाम युद्ध में अपने सैनिकों को झोंकर उसने न केवल विश्व के शान्ति प्रिय देशों को अपना विरोधी बना लिया वरन् अमेरिकी जनता को अपना विरोधी बना लिया। वियतनाम युद्ध ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया जिसका प्रमाण अमरीका का 1969 का बजट था जिसमें 12 अरब डालर का घाटा दिखाया गया था। 1967 के अरब इजराइल संघर्ष में राष्ट्रपति जानसन ने इजराइल को अपना समर्थन प्रदान किया। इससे अरब देश अमरीका से नाराज हो गये, जिसका लाभ उठाकर सोवियत संघ और फ्रान्स ने मध्यपूर्व में अपना प्रभाव बढा लिया। सात अरब देशों संयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, मौरसियना, अल्जीरिया, सीरिया, इराक और यमन ने अमरीका से राजनीतिक सम्बन्ध तोड़

लिए तथा अधिकांश अरब देशों ने अमरीका और ब्रिटेन को तेल देना बन्द कर दिया। 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अपने प्रादेशिक समुद्र में अमरीका के जासूसी पोत प्यूब्लो (Pueblo) और उसके 83 नाविकों को पकड़ लिया। उत्तरी कोरिया ने पोत छोड़ने से इन्कार दिया। बाद में अमेरिकी राज्य सचिव डीन रस्क ने एक ब्राडकास्ट में यह स्वीकार कर लिया कि प्यूब्लो जासूसी पोत भूल से उत्तरी कोरिया के प्रादेशिक जल में भटक गया था। उत्तरी कोरिया ने इस स्वीकारोक्ति से सन्तोष करके प्यूब्लो के नाविकों को मुक्त कर दिया।

राष्ट्रपति निक्सन और अमेरिकी विदेश नीति (1969-74)

निक्सन का कार्यकाल अमरीका के इतिहास में क्रान्तिकारी माना जायेगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत के प्रति अमेरीका की नीति को एक नयी दिशा दी। राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने साम्यवाद को सीमित रखने वाली अमरीका की पुरानी नीति Containment Policy) में परिवर्तन करते हुए अपने नवीन नीति की घोषणा की और यह कहा कि अमरीका के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह दूसरे देशों की सुरक्षा के लिए लड़े। अन्य देशों की प्रगति और प्रतिरक्षा उनका अपना ही कार्य होना चाहिए। स्पष्ट शब्दों में इसका यह अभिप्राय था कि अब अमरीका भविष्य में साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए वियतनाम जैसे युद्धो में नहीं पड़ेगा। यही नीति निक्सन सिद्धान्त (Nixon Doctrine) कहलाती है।

निक्सन 1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान की हिमायत के लिए बंगाल की खाड़ी में अमरीकी सातवां बेड़ा भेज दिया

और यह बहाना बनाया कि ढाका में स्थित अमरीकियों को बाहर निकालना है। वस्तुतः यह निक्सन की युद्धपोत कूटनीति (Gunboat Diplomacy) थी जिसका उद्‌देश्य भारत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भयभीत करके बंगलादेश से अपनी सेनाएं हटाने को बाध्य करना और पाकिस्तान को विभाजन से बचाना था।

राष्ट्रपति फोर्ड (1974-77)

वाटर गेट के जासूसी काण्ड में फंस जाने के कारण जनमत के दबाव एवं महाभियोग के भय से निक्सन को राष्ट्रपति पद त्यागना पड़ा। फोर्ड के समय में विदेश निति की प्रधान घटना दक्षिणी वियतनाम का आत्मसमर्पण और अमरीका द्वारा दक्षिणी पूर्वी एशिया से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेना था। फरवरी 1975 में अमरीकी सरकार द्वारा विगत दश्क वर्षो से पकिस्तान के हथियारों की सप्लाई पर जो प्रतिबन्ध लगा रखा था उसे समाप्त कर दिया। निक्सन काल में चीन अमरीकी सम्बन्धों की जो कड़ी जुड़ी उसे बनाए रखने की दिशा में दिसम्बर 1975 में चीन की यात्रा की।

राष्ट्रपति कार्टर (1977-80)

पश्चिमी एशिया में शान्ति की स्थापना के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। फरवरी १९७८ में राष्ट्रपति कार्टर ने मिस्र के राष्ट्रपति सादात को आमंत्रित किया और दोनों नेता कैंप डेविड में मिले। पश्चिमी एशिया में संघर्ष की स्थिति समाप्त कर शान्ति की प्रक्रिया को तेज करना इस मुलाकात का मुख्य उद्‌देश्य था।

कैंप डेविड समझौता का अरब राज्यों द्वारा घोर विरोध हुआ और मिस्र के साथ उन्होंने अपना राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिया। कार्टर शायद पहले राष्ट्रपति थे जिन्होने खुद इस उलझे प्रश्न को सुलझाने के लिए कैंप डेविड वार्ता के दिनों में 13 दिनों तक देश की बागडोर अपने उपराष्ट्रपति को सौंपी थी।[22]

कार्टर प्रशासन ने उरूग्वे, अर्जेन्टाइना, इथियोपिया, आदि देशों में मानवाधिकार के तथ्यों को लेकर विदेशी मदद रोक दी। किन्तु फिलीपीन, दक्षिणी कोरिया एवं ईरान के अधिनायकवादी शासनों के खिलाफ इस प्रकार का कदम न उठाना कार्टर प्रशासन की नीति में समरूपता का परिचायक नहीं माना जा सकता।

राष्ट्रपति जार्ज बुश (1989-92)

रीगन समर्थित जार्ज बुश को राष्ट्रपति चुनकर अमरीकी जनता ने स्पष्टतया रीगन की साम्राज्यवादी नीतियों का ही समर्थन किया तथापि जार्ज बुश ने अमरीकी विदेशनीति में बुनियादी परिवर्तन कर रीगन की नीति से अलग प्रकार की विदेश नीति का सूत्रपात किया। जहां रीगन ने नवशीत-युद्ध की शुरूआत की वहां बुश ने शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा की। जहां रीगन ने नाटो को शक्तिशाली बनाने की पेशकश की वहां बुश ने नाटो की अवांछनीयता प्रतिपादित की। जहां रीगन ने स्टारवार कार्यक्रम प्रस्तुत किया वहां बुश ने सामरिक हथियारों की कटौती करने की एकतरफा घोषणा की। इन सब के आड में बुश प्रशासन ने अपनी साम्राज्यवादी प्रवत्ति का अनुसमर्थन किया।

---

[22] दीनानाथ वर्मा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध पृ० 176 ज्ञानदा प्रकाशन पी० डी० नई दिल्ली।

खाड़ी युद्ध राष्ट्रपति बुश की साम्राज्यवाद का मिशाल है। अमरीका ने सक्रिय विदेशनीति अपनाकर सर्वप्रथम सोवियत राष्ट्रपति गोबाप्रायोव का सहयोग हासिल किया; संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद से अपनी नीति के अनुकूल प्रस्ताव पारित करवाए, बहुराष्ट्रीय सेना का नेतत्व किया और कुवैत को आजाद कराया। कुवैत की स्वतन्त्रता का प्रश्न अमरीका के महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों से सम्बद्ध था। कुवैत का पेट्रोल अमरीका और पश्चिमी देशों के हितों से जुड़ा हुआ था। ज़मीनी लड़ाई से इराक को परास्त कर आज अमरीका पश्चिमी एशिया के शक्ति समीकरण में अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका है। यह अमरीकी कूटनीति का ही कमाल है। कि उसने खाड़ी युद्ध के दिनों में अरब राज्यों को विभाजित रखा, इजराइल को युद्ध में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और इराक को तहस–नहस कर दिया।

संक्षेप में शीतयुद्ध का अन्त, खाड़ी में अमरीकी विजय, पश्चिमी एशिया में अमरीकी वर्चस्व और अमरीका का अकेले महानतम शक्ति के रूप में अभ्युदय बुश की विदेश नीति के प्रमुख सीमा चिन्ह है। यह राष्ट्रपति बुश की ही विदेश नीति की करामात है कि खाड़ी युद्ध में पश्चिम नेतृत्व 'विशेषकर अमेरिकी' वाली एलायड फोर्सेज की सद्दाम हुसैन पर शानदार विजय तथा सोवियत संघ के पतन के पश्चात एक बार पुन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की लगाम अमरीका के हाथो में आ गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था अमरीका के हाथ की कठपुलती बन गयी। इसकी सुरक्षा परिषद जिसको अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना का मौलिक उत्तरदायित्व सौंपा गया था, आज अमरीका की विदेश नीति के क्रियान्वयन का एक प्रभावशाली यन्त्र मात्र बनकर रह गई है।

बिल क्लिटन और अमेरिका (1993 से 2000)

'जब शासन बदलता है तो अमेरिका के हित नहीं बदलते।' अपनी जीत के बाद दिये गये अभिवादन भाषण में बिल क्लिंटन का अभिप्राय यह है कि मुख्य रूप से पिछली विदेशनीति की अधिकतर बातों को जारी रखा जायेगा। क्लिंटन ने विशेष रूप से कहा कि उनकी प्राथमिकताओं में पश्चिम एशिया शान्ति वार्ता को जारी रखना, रूस के साथ साल्ट सन्धि के प्रयासों में निष्कर्ष पर पहुँचना युद्धरत पूर्व युगोस्लाविया में शान्ति बहाल करना और अकाल पीड़ित सोमालिया में सहायता आपूर्ति करना शामिल है।

अमरीकी प्रशासन ने घोषणा की कि यदि चीन ने अपने मानवाधिकार रिकार्ड को ठीक नही किया जो उसे मोस्ट फेवर्ड नेशनल ट्रेड स्टेट्स से वंचित कर दिया जायेगा। किन्तु मानवाधिकार के मुददे पर चीन झुकने के लिए तैयार नहीं है। चीनी प्रधानमन्त्री फेंग ने स्पष्ट कहा कि चीन कभी अमरीकावादी मानवाधिकारों को स्वीकार नहीं करेगा। यदि कभी अमरीका मोस्ट फेवर्ड नेशन ट्रेड स्टेट्स को समाप्त करना चाहता है तो चीन को भी इस स्टेटस में कोई एकतरफा रूचि नहीं है। चीनी प्रधानमन्त्री ने कहा कि सन 2000 तक चीन 10 खरब डालर मूल्य का माल आयात करने लगेगा, यदि अमरीका को चीन का वहद आयात बाजार नहीं चाहिए तो वह भले ही एम० एफ० एन स्टेट्स को समाप्त कर दे।

अमरीका की जापान से यह शिकायत है कि वह अमरीका की मुक्त बाजार व्यवस्था से लाभ उठाकर अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को तीव्र गति से बढा रहा है लेकिन अपने बाजार को उसने पूरी तरह बन्द कर रखा है। जापान निर्यात के लिए अपने उत्पादकों को

तरह-तरह की रियायतें देता है तथा आयातों पर प्रतिवन्ध लगाता है। अल्पआयात व अधिक निर्यात की उसकी अर्थव्यवस्था को क्लिटन बदल देना चाहते थे। क्लिटन के दबाव पर जापान ने अपने चावल को विश्व बाजार के लिए खोल दिया। अमरीका को जापान अपना खुला बाजार प्रदान करे, यह आग्रह करने के लिए क्लिंटन जापान की यात्रा पर गये। लेकिन जापान ने उनकी बात नहीं मानी। अमरीका ने जापान पर सुपर 301 लागू करने की चेतावनी दी। सुपर 301 के अन्तर्गत अमरीका किसी भी देश से होने वाले आयात पर 100 प्रतिशत दण्डात्मक प्रशुल्क लगा सकेगा। राष्ट्रपति क्लिंटन एवं जापान के प्रधानमन्त्री हाशीमोतो ने 17 अप्रैल 1996 को टोक्यो में संयुक्त सुरक्षा घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए। अमरीका ने एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में शान्ति व स्थिरता की सुरक्षा के लिए एक लाख सैनिक तैनात करने का वचन दिया। संयुक्त घोषणा पत्र में रक्षा सहयोग के महत्व पर बल दिया गया। इसमें कहा गया है कि जापान अपने यहां अमरीकी सैनिकों को वित्तीय और अन्य वित्तीय सहायता देता रहेगा।

3 दिसम्बर, 1999 को सियेटल में सम्पन्न विश्व व्यापार संगठन की ततीय मन्त्रिस्तरीय वार्ता बिना किसी साझी घोषणा के समाप्त हुई। अमेरिका चाहता था कि पर्यावरण एवं श्रम मानकों के मुद्दों पर कोई समझौता आरोपित कर दिया जाय। विकासशील देशों को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित करने के लिए उसने स्वैच्छिक संगठनों (NGOs) का एक विराट प्रदर्शन सम्मेलन के समझ आयोजित किया। जब विकासशील देश इससे प्रभावित नहीं हुए तब राष्ट्रपति क्लिंटन ने धमकी दी। यदि पर्यावरण एवं श्रम मानकों के मुद्दों को स्वीकार नहीं

किया गया तो अमरीका उन देशों के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगा देगा।

विकासशील देश सिएटल में अमेरिकी हेकडी के खिलाफ एकजुट हो गये। अमरीकी अखवारों ने क्लिंटन की सिएटल रणनीति की भरपूर आलोचना की।

राष्ट्रपति क्लिंटन ने 27 नवम्बर 1993 को संयुक्त राष्ट्र महासभा में कश्मीर को ऐसा संघर्षग्रस्त क्षेत्र बतलाया जिससे विश्व शान्ति को खतरा है। इससे पहले किसी अमेरीकी राष्ट्रपति ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर इस तरह का बयान नहीं दिया था। कश्मीर के अलावा मानवाधिकार, परमाणु अप्रसार और व्यापार भारत अमरीका सम्बन्ध में कड़वाहट के प्रमुख मुद्‌दे रहे। 11 एवं 13 मई 1998 को भारत ने पोखरन में पांच परमाणु परीक्षण किए जिसकी प्रतिक्रिया में 18 जून को अमरीका ने भारत के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लागू करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। पोखरण परमाणु विस्फोटों के बाद 200 से ज़्यादा भारतीय संस्थानों एंव कम्पनियों को अमेरिका ने काली सूची में डाल दिया था। प्रतिवन्धित संस्थानों व कम्पनियों के साथ किसी भी तरह के कारोबार पर रोक लगा दी थी। दिसम्बर 1999 क्लिंटन प्रशासन ने पोखरण में परमाणु विस्फोट के बाद लागू प्रतिबन्धों की सूची से 51 भारतीय कम्पनियों को हटा दिया जिसका भारत ने सही दिशा में कदम बताकर स्वागत किया।

कारगिल के सन्दर्भ में क्लिंटन ने भारत का प्रखर एवं मुखर समर्थन किया इससे पाकिस्तान अलग-अलग पड़ गया।

संक्षेप में क्लिंटन अरब-इज़राईल समस्या को सुलझाना चाहते थे। वे उन देशों पर दबाव डालते रहे जैसे भारत पाकिस्तान जो

परमाणु अप्रसार सन्धि पर हस्ताक्षर करने के इच्छुक नहीं है। जहां तक मानवाधिकारों की बात है क्लिंटन इसे लागू करने के लिए काफी उत्सुक और चिन्तित थे। फिर भी अमरीकी प्रभुत्व को सतत् स्थापित की जाने वाली साम्राज्यवादी तकनीकों से मुक्त नहीं हो पाये।

जार्ज वाकर बुश 2001 से

जनवरी 2001 में राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू बुश ने आते ही विदेशनीति के क्षेत्र में आक्रामक रूख अपनाने के संकेत दिए। इसकी शुरूआत खाडी युद्ध के समय सेनाध्यक्ष रहे जनरल कोलिन पावेल को विदेश मन्त्री बनान के साथ ही हो गयी थी। दुष्ट परमाणु ताकतों से अमेरीका और उसके मित्र देशों की सुरक्षा के लिए बुश 100–200 अरब डालर की एन एम डी व्यवस्था विकसित करना चाहते थे जिससे विश्व में हड़कम्प मचा हुआ है।

अप्रैल 2001 में चीन अमेरिकी रिश्तों में शीत युद्ध की सी स्थितियां उभरने लगी। अमरीकी नौसेना का टोही विमान चीन की सीमा में घुस गया तथा चीन के युद्धक जेट विमान से टकरा गया। अमेरिकी टोही विमान को चीन ने अपने हैनान द्वीप के सैनिक अडडे पर ज़बरजस्ती उतार दिया।

चीन ने इस अमरीका की आक्रामक कार्यवाही माना। इस घटना के दोनों देशों के बीच कूटनीतिक संकट पैदा कर दिया । चीन जिद करने लगा कि अमेरिका इस हादसे के लिए क्षमा याचना करे। ग्यारह दिन बाद अमेरिकी चालक दल रिहा हुआ लेकिन इसके पहले अमेरिका ने लिखित रूप से दो बार वेरीसारी कहकर दुख प्रकट किया।

चालक दल के रिहा होते ही अमरीका में चीन के साथ सम्बन्धों को लेकर पुनर्विचार शुरू हो गया है। ताइवान को किसी भी चीनी

आक्रमण से बचाने की बुश की घोषणा से अमेरिका चीन सम्बन्धों में तनाव आ गया है।

जार्ज डब्ल्यू बुश के प्रशासन में सामरिक दृष्टि से भारत को अधिक महत्व दिया जा रहा है। भारत पर लगे प्रतिबन्धों के बावजूद अमरीकी प्रशासन के राष्ट्रीय प्रक्षेपास्त्र रक्षा प्रणाली पर भारत से सलाह लेने का निर्णय लिया।

अप्रैल 2001 में क्यूबेक सिटी के अमेरिका महाद्वीप का शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में अमेरिका के राष्ट्रपति जार्ज बुश सहित उत्तर और दक्षिणी अमरीका महाद्वीप के विभिन्न देशों के राष्ट्रपतियों एवं प्रधानमन्त्रियों ने वर्ष 2005 के अन्त तक मुक्त व्यापार क्षेत्र की स्थापना पर सहमति व्यक्त की। इस एकीकरण से 130 खरब की आर्थिक व्यवस्थाएं इकट्ठी हो जायेगी इससे प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि होगी। शिखर में यह भी निर्णय किया गया कि अमेरिका के मुक्त व्यापार क्षेत्र में केवल लोकतन्त्र को ही स्थान दिया जायेगा तो जो देश लोकतन्त्र को छोड देंगे वे इस क्षेत्रीय गठबन्धन का भाग नहीं रहेंगे अर्थात किसी देश में सेना द्वारा तख्ता पलट होगा तो उसे निकाल दिया जायेगा।

विषाक्त गैसों से मुक्ति दिलाने के लिए 1997 में जापान के क्योटो शहर में द्वितीय पृथ्वी सम्मेलन हुआ था जो क्योटो प्रोटोकाल के नाम से जाना जाता है। क्योटो प्रोटोकाल के अनुसार 5 प्रतिशत से 7 प्रतिशत तक ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन कम करना है। 20 मार्च 2001 को जार्ज बुश ने स्पष्ट कर दिया कि वे सीनेट से क्योटो प्रोटोकाल की अभिपुष्टि का आग्रह नही करेंगे क्योंकि यह प्रोटोकाल अमरीका के आर्थिक एवं राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है। राष्ट्रपति की

उदघोषणा से अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरणाविदों को जबरदस्त धक्का लगा है। युरोपीय संघ के नेताओं ने कहा कि अमेरिका को अहम्मन्य महाशक्ति की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए।

एन० एम० डी० (राष्ट्रीय प्रेक्षास्त्र सुरक्षा प्रणाली)

National Misille Defence System

राष्ट्रपति बुश ने 1 मई 2001 को वाशिंगटन में National Defence Univesity में भाषण देते हुए अमेरिका की प्रक्षेपास्त्र सुरक्षा प्रणाली की घोषणा की। यदि किसी भी देश ने अमरीका पर या किसी दूसरे देश को निशाना बनाते हुए अणुशस्त्र छोडा तो जमीन पानी या आसमान पर खडी अमेरिकी मिसाइलें उस छोडे गये अस्त्र पर प्रत्याक्रमण कर तुरन्त उसे नष्ट कर देगी और फिर उनके पीछे से दूसरे अमेरिकी मिसाइलें उसी ठिकाने को भी निशाना बना देंगी जहां से अणुशस्त्र छोड़ा गया होगा।

ऐसा लगता है कि बुश 1972 के एन्टी वैलिस्टिक मिसाइल ए० बी० एम० समझौते को दरकिनार करके ऐसा सुरक्षा कवच बनाना चाहते है जिसमें ऐसी अत्याधुनिक प्रणालियां शामिल हो जो हमलावर मिसाइलों का पहले ही पता लगाकर उन्हें बीच में ही नष्ट करके अमेरिका और उसके मित्रों को एक खतरनाक और अनिश्चित विश्व से सुरक्षा प्रदान करें।

रूस सहित विश्व के अन्य देशों ने अमेरिका के इस कार्यक्रम को एन० एम० डी० के बहाने स्टार वार संस्करण के रूप में पहचान की है।

अमरीका के दो प्रमुख शहर व्यापारिक राजनधानी न्यूयार्क और राजनीतिक राजधानी वाशिंगटन के दो महत्वपूर्ण ढिकानों पर 11सितम्बर २००१ को अचानक किए गये आत्मघाती हमलों में हजारों लोग हताहत हो गये। पहली बार अमरीका पर सीधा आतंकवादी हमला है।

राष्ट्रपति बुश ने विश्व व्यापार केन्द्र और पैंटागन पर हुए हमलों को युद्ध की कार्यवाही बताते हुए इसमें अपने देश के विजय का संकल्प व्यक्त किया। बुश के अनुसार यह छदम युद्ध है जहां शत्रु वार करके छिप जाना चाहते है। अमरीका ने बदले की कार्यवाही के लिए विश्वव्यापी समर्थन जुटाने का अभियान शुरू किया है। अमरीका ने व्यापक एकजुट प्रयासों से आतंकवाद के खिलाफ मज़बूत गठबन्धन खडा करने वाला कदम बताया है। यह अमरीका के खिलाफ नहीं बल्कि यह युद्ध समूची सभ्यता के खिलाफ है। यह तब तक खत्म नहीं होगी जब तक अन्तर्राष्ट्रीय पहुँच वाला हर आंतकवादी संगठन परास्त नहीं हो जाता।

अमेरिका और एशिया

बीसवीं सदी के छठीं दशक से अमरीकी विदेश नीति के निर्धारकों के दिमाग में समय समय पर यह बात ज़ोर पकड़ती जा रही थी कि एशियाई देशों के प्रति अमरीकी नीति बदली जाय। सावतें दशक में अमरीका की इच्छा के विपरीत बंगलादेश का उदय हुआ। वियतनाम में अपार जनशक्ति और धन नष्ट करने के बाद अमरीका को वहां से हटना पड़ा। कडे अमरीका प्रयत्नों के बावजूद वियतनाम लाओस और कम्बोडिया एक एक कर साम्यवादी शासकों के प्रभुत्व में आ गये। अमरीका को भारत द्वारा परमाणु परीक्षण करने की आशा कभी नही थी। उसके द्वारा प्रवर्तित सैनिक संगठन सीटो (SEATO) तो पूर्ण रूप

से टूट गया एवं सन्टो (CENTO) भी अपनी मौत की अन्तिम घडियां गिन्ने लगा। इन घटनाओं ने अमरीकी एशिया नीति में तब्दीलियां आवश्याभावी बना दी।

1949 में साम्यवादी सरकार स्थापित होने के बावजूद अमरीका ने सोचा कि एशिया में सोवियत चीन साम्यवादी गठबन्धन अपने प्रभाव का विस्तार करेगा। यह अमरीकी राज व्यवस्था के लिए गम्भीर चुनौती थी। मूलभूत रूप से इसी को ध्यान में रखते हुए अमरीका ने एशिया में साम्यवाद को रोकने की कोशिशें जोरों से प्रारम्भ कर दी। इन उददेश्यों की प्राप्ति हेतु अमरीका ने स्वतन्त्रता, न्याय, लोकतन्त्र, विश्व शान्ति, एवं सुरक्षा के नारों के सहारे एशियाई देशों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता वांधा किन्तु कोरिया और वियतनाम संकट में अमरीकी रूख से यह स्पष्ट हो गया कि उसकी महत्वाकांक्षी समस्त विश्व को अपना प्रभाव क्षेत्र मानने की है।

एशिया में सैनिक सन्धियां करने और अनेक देशों को आर्थिक मदद देते समय अमरीका के दो उद्देश्य थे साम्यवाद का प्रसार रोकना तथा अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लाभ दिलवाना। व्यवहार में हुआ यह कि इसने बहुराष्ट्रीय निगमों का हित सम्वर्द्धन अधिक किया और साम्यवाद के प्रसार को रोकने का कार्य कम। दूसरी बात अमरीका ने जापान को छोडकर किसी अन्य एशियाई देश को औद्योगिक विकास के मामलों में मदद नही दी जबकि सोवियत संघ ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। एशिया देशों पर अनुकूल सकारात्मक प्रभाव पडा। इस क्षेत्र में अमरीका तभी लोहा ले सकता था जब वह भी उसी प्रकार की सहायता उपलब्ध कराता। यही नही सोवियत संघ ने अमरीका को राजनीतिक आकर्षण और चमक दमक के मामलों में पीछे छोड दिया

क्योंकि सोवियत संघ ने तो औपनिवेशिक देशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों का समर्थन किया और लोकतन्त्र का अनुभवी कहलाने वाला अमरीका चुप्पी साधे रहा।

पश्चिमी एशिया अपने उपलब्ध तेल भण्डार तथा जलमार्ग के कारण सामरिक महत्व का क्षेत्र है। द्वितीय महायुद्ध तक इस क्षेत्र में ब्रिटेन का एक मात्र प्रभाव था। युद्ध के बाद सोवियत संघ इस क्षेत्र में अपने पांव जमाने का प्रयास करने लगा। 1948 में ब्रिटेन ने फिलिस्तीन को छोडने का प्रयास कर लिया तो अमरीका ने शक्ति शून्यता के आड में इस क्षेत्र के राज्यों की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया।

पश्चिम एशिया में अमेरिका की प्रमुख नीतियां इस क्षेत्र में सोवियत प्रभाव को रोकना अमरीकी प्रभाव का विस्तार करना इस क्षेत्र में अस्त्र सन्तुलन को बनाए रखना, इस क्षेत्र सामरिक महत्व के जलमार्गों को खुला रखना, फारस की खाड़ी से पश्चिमी शक्तियों का तेल निरन्तर एवं बरोक प्राप्त होता रहे।

मध्यपूर्व में अपनी विदेशनीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अमरीका ने आर्थिक सहायत सैनिक सन्धियां एवं अरब राष्ट्रों में फूट डालने की नीति अपनायी।

युनान और तर्की को ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत 40 करोड़ डालर की अमरीकी सहायता प्रदान की। ईरान और जार्डन की विकास योजनाओं को अमरीका ने सहायता प्रदान की। 1956 में बगदाद पैक्ट द्वारा कतिपय अरब राज्यों को पश्चिम के साथ सम्बद्ध किया गया जिसमें ब्रिटेन ईरान, ईराक तुर्की और पाकिस्तान शामिल हो गये। 1958 के क्रान्ति के फलस्वरूप ईराक इस पैक्ट से अलग हो गया और इसका

नाम 1959 में सेन्टो (CENTO) कर दिया गया। यद्यपि अमरीका सेण्टो का पूर्ण सदस्य नहीं रहा किन्तु सेण्टो को अमरीका का पूर्ण समर्थन रहा है। अमरीका ने अरब राष्ट्रों में फूट डालने का भरसक प्रयास किया। 1978 के कैम्प–डेविड समझौते ने मिश्र और इजराइल के बीच जो अमरीका द्वारा प्रेरित था, मिस्र को अरब राष्ट्रों से अलग कर दिया। आइजनहावर सिद्धान्त 1957 द्वारा अमरिका ने पश्चिमी एशिया के राज्यों की चौकसी का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लाद लिया। आइजनहावर सिद्धान्त के अन्तर्गत 15 जुलाई 1958 को गह युद्ध की स्थिति का सामना करने के लिए दस हजार अमरीकी सशस्त्र सैनिक लेबनान में उतारे गये। इसी प्रकार आइजनहावर सिद्धान्त का प्रयोग जोर्डन में भी किया गया। सीरिया और यमन ने इसका तीव्र विरोध किया।

पश्चिमी एशिया में अमरीकी नीति इजराइल समर्थक रही है अमरीका ने इजराइल को तत्काल मान्यता दी तथा तीसरे राज्यों के माध्यम से शस्त्र प्रदान किए। जब से अरब राष्ट्रों ने पश्चिमी एशिया में तेल अस्त्र का प्रयोग किया तब से अमरीकी नीति अरब इजराअल विवाद के समाधान के लिए सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर रही है।

24 जनवरी 1980 को कांग्रेस को भेज गये अपने वार्षिक सन्देश में राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने खाड़ी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके शब्दो में किसी बाह्य शक्ति द्वारा खाड़ी क्षेत्र पर नियन्त्रण के प्रयास को अमरीका के आवश्यक हितों पर आक्रमण समझा जायेगा और उसे सैनिक शक्ति सहित किन्हीं आवश्यक साधनों द्वारा खदेड़ दिया जायेगा।[23]

---

[23] Natrajan, **The American Shadow Over India** ,Page 92

अमरीका और दक्षिण एशिया

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका की मंशा थी कि दक्षिण एशिया के नवोदित राष्ट्र साम्यवादी प्रभाव को रोकने में अमरीकी सैनिक गठबन्धन में शामिल हों, किन्तु भारत, अफगानिस्तान श्रीलंका जैसे दक्षिणी एशिया के गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा यह करना सम्भव न था। पाकिस्तान 1954–55 में क्रमश सीटो एवं सेण्टो का सदस्य बना जिसे अमरीका ने चीनी प्रभाव रोकने का अच्छा साधन माना। बहरहाल पाकिस्तान ने अमरीका से शस्त्रास्त्र एवं आर्थिक सहायता पाकर भारत से कश्मीर पर उलझने की कोशिशें तेज कर दी। अपार मात्रा में पाकिस्तान को अमरीकी शस्त्रों ने भारत एवं अफगानिस्तान जैसे बडे दक्षिण एशियाई देशों को अमरीका से विमुख किया।

हाला कि 1962 में भारत पर चीन के अचानक फाँसी हमले के समय अमरीका ने भारत की भरपूर मदद की थी तथा कैनेडी प्रशासन के युग में दोनों के बीच मधुर सम्बन्धों के आरम्भ होने के लक्षण भी दिखाई दिए किन्तु कश्मीर समस्या पर अमरीका के भारत विरोधी रूख एवं पाकिस्तान को असीमित फौजी शस्त्रों की मदद के कारण यह सम्भव नही हो सका। 1965 के भारत पाक युद्ध में अमरीका ने दोनों की विदेशी सहायता रोक दी किन्तु कश्मीर विवाद पर उसने संयुक्त राष्ट्र में भारत विरोधी रूख जारी रखा। 1971 में बंगलादेश को लेकर हुए भारत पाक युद्ध के पूर्व अमरीका ने यहां तक कह दिया कि सम्भावित भारत पाक युद्ध में यदि चीन कूदा तो भारत को अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी। इसी ने 1971 में ही भारत सोवियत मैत्री एवं

सहयोग सन्धि का मार्ग प्रशस्त्र किया, जिसके प्रति अमरीका ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त किया।[24]

1974 में 480 को लेकर अमरीका ने भारत के प्रति सहानुभूति पूर्वक रूख अपनाया तथा यह मसला सुलझ गया। लेकिन उसी वर्ष फिर हिन्द महासागर में बढ़ती अमरीकी नौ सैनिक गतिविधि तथा भारत द्वारा परमाणु परीक्षण से दोनों देशों के सम्बन्ध मजबूत न हो सके। जून 1980 में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर ने तारापुर परमाणु बिजलीघर के लिए समद्ध युरेनियम की आपूर्ति करने के सरकारी आदेश पर हस्ताक्षर कर दिए थे परन्तु सीनेट ने भारत को 38 टन युरेनियम देने से इन्कार कर दिया।

रीगन प्रशासन की नजरों में भारत सोवियत शक्ति के विस्तार को रोकने में सहायक नहीं है। अतः उसका विशेष महत्व नही था। सोवियत विस्तारवाद रोकने के बहाने अमरीका पकिस्तान को सुदढ और शक्तिशाली बनाने लगा, वह उसे आधुनिकतम सैनिक सामान और एफ-16 जैसे विध्वंशक वायुयानों की सप्लाई करने लगा जो कि भारत की चिन्ता का कारण रहा।

अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से पाकिस्तान का चिन्तित होना स्वभाविक था। अमरीका सोवियत विस्तारवाद को रोकने के लिए पाकिस्तान को शक्तिशाली बनाकर दक्षिण एशिया में भारत का सुदृढ़ प्रतिद्वन्दी तैयार करने में लगा रहा। पाकिस्तान का 3 अरब डालर की सैनिक सहायता इस्लामिक बम के निर्माण हेतु अप्रत्यक्ष सहायता के पीछे यही उद्देश्य रहा।

---

[24] वही 93

भारत–अमेरीका सम्बन्धों पर अमरीका में अध्यापन में कार्यरत पो० बलदेवराज नायर ने पो० लिस्का की एक पुस्तक से उद्धरण करते हुए हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक जिओ पोलिटिक्स आफ इण्डो अमेरिकन रिलेशन्स में उल्लेखनीय विश्लेषण किया है। उनके अनुसार विश्व महाशक्ति के सम्मुख किसी से सम्बन्ध बनाते वक्त तीन विकल्प रहते है उसको अपनी विदेश नीति के अधीनस्थ बनाना, उसका प्रभाव रोकना एवं उसके साथ समायोजन करना। प्रो० बलदेवराज नायर के इस विश्लेषण में जरूर दम है कि मोटे तौर पर 1954 तक अमरीका ने भारत को साम्यवादी गुट के खिलाफ जेहाद छेड़ने में आमन्त्रित कर उसे अधीनस्थ बनाने की कोशिश की। जब यह सम्भव न हुआ तो 1954 से पाकिस्तान को असीमित सैनिक एवं आर्थिक मदद देकर भारत के समकक्ष शक्ति के रूप में खड़ाकर उसका प्रभाव रोकने की नीति अपनायी। किन्तु 1971 की हार और 1974 में भारत द्वारा परमाणु परीक्षण के कारण भारत को अमेरीका द्वारा दक्षिण एशिया के शक्ति के रूप में स्वीकार करना पड़ा जो 1974 को किसिंगर की भारत यात्रा और उसके बाद अमरीकी प्रतिनिधि क्रिस्टोफर की यात्रा के दौरान दिये गये से भाषण स्पष्ट होती है। किन्तु 1971 के बाद भारत के साथ अमरीकी समायोजन को सांकेतिक ही समझा जाना चाहिए क्योंकि उसने अभी तक पूर्ण रूप से मूर्त रूप धारण नही किया है।

मई 1998 में जब भारत और पाकिस्तान ने परमाणु परीक्षण किए तो अमेरिका ने दोनों देशों के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए। मई 1999 में जब पाकिस्तान ने कारगिल क्षेत्र में घुसपैठिए भेजकर दक्षिण एशिया में शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया तो राष्ट्रपति क्लिंटन ने पाकिस्तान का समर्थन न करते हुए उसे नियन्त्रण रेखा का

सम्मान करने की सलाह दी। नवाज शरीफ ने अमरीकी राष्ट्रपति क्लिंटन को वाशिंगटन में वार्ता के दौरान आश्वासन दिया कि वे भारतीय भूमि से पाकिस्तानी सैनिकों और मुजाहिदीन को वापस बुला लेंगे तथा नियन्त्रण रेखा का पूरी तरह से सम्मान करेंगे। अमेरीका ने पकिस्तान के सैन्य नेतृत्व पर भी दबाव डाला कि वह कारगिल क्षेत्र में भेजे गये घुसपैठियों को हटाने में रूकावट पैदा न करे।

मार्च 2000 में राष्ट्रपति क्लिंटन ने दक्षिण एशिया के प्रमुख देशों भारत बंगलादेश और पाकिस्तान की यात्रा की। क्लिंटन ने कश्मीर मसले के समाधान में मध्यस्थता करने की पाकिस्तान की अपील को पूरी तरह खारिज करते हुए देश में सेना द्वारा सत्ता सम्भालने पर उसे जमकर लताड़ लगाई। उन्होंने सीमा पर जम्मू कश्मीर में आतंकवाद को बढावा देने के खिलाफ भी पाकिस्तान को दो टूक चेतावनी दी और कहा कि नियन्त्रण रेखा के पार नागरिकों पर हमलों को पाकिस्तान का समर्थन जारी रहा तो पाकिस्तान अमेरिकी समर्थन खो देगा। पाकिस्तान की जनता के नाम दूरदर्शन पर सम्बोधन में क्लिंटन ने कहा यह युग उन लोगों को पुरस्कृत नही करता जो खून से सरहदों की लकीर दुबारा खीचने का फिजूल का प्रयास करते है। यह युग उनका है जो सरहदों से आगे देखकर वाणिज्य और व्यापार में साझीदार बनाना चाहते है क्लिंटन ने पाकिस्तान को स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि उसने हिसा का समर्थन किया तो उसे अलग थलग होने का खतरा उठाना पड़ेगा।

उपयुर्क्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यहां तक एक ओर चीन और अमरीका एशिया में सोवियत संघ के प्रभाव को काटने की कोशिश कर रहे थे वही दूसरी ओर सोवियत संघ उनका प्रतिकार करने लगा। यह

भी उल्लेखनीय है कि अमरीका और सोवियत रूस कभी कही चाहते थे कि चीन एशिया का नेतत्व करे। इस परिपेक्ष्य में अमरीकी विदेशनीति सोवियत संघ एवं साम्यवादी चीन दोनों का उपयोग एक दूसरे के प्रभाव को रोकने के लिए करने लगी तथा साथ में दोनों के साथ एक हद तक ठीक-ठाक सम्बन्ध बनाए रखना तक किया। इसे अमेरिका की विशिष्ट उपलब्धि ही कहा जायेगा। क्योंकि अब अमरीका अपना व्यापार मानव आर्थिक और सैनिक खर्च के द्वारा नहीं बल्गि विश्व राजनीति की त्रिकोणीय कूटनीति के द्वारा चलाने लगा।

प्रसिद्ध अमेरीकी राजनयिक जार्ज कैनन ने बार-बार कहा था कि अमरीकी विदेश नीति घडी के पेण्डुलम की भांति एकान्तवास एवं हस्तक्षेप के दो छोरों पर झूलती है। यह बात एशिया लैटिन अमरीका अफ्रीका और यहां तक कि युरोप में अमरीकी नीति पर अच्छी तरह लागू होती है। वैसे अमरीका की विदेश नीति अधिकांश देशों को या तो अधीनस्थ बनाने या उसका प्रभाव रोकने की रही है जबकि आदर्श स्थित समायोजन की होनी चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति की उग्रता से शीत युद्ध का वातावरण बना। अमरीका ने आर्थिक और सैनिक सहायता के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से अपने साम्राज्यवादी पंजे को फैलाया। लैटिन अमरीका दक्षिण पूर्वी एशिया और मध्यएशिया अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रमुख क्षेत्र रहे है। हिन्दचीन, कम्बोडिया, वियतनाम, अरब, इजराइल, पाकिस्तान आदि में अपनायी गयी अमरीकन नीति इस साम्राज्यवादी लालसा की द्योतक है।

अमेरीकी विदेश नीति में उपनिवेशवाद विरोधी तत्वों को कभी भी स्थान नहीं दिया गया लैटिन अमेरीकी देशों और सुदूरपूर्व में अमेरीका

ने हमेशा से अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयास किया। अमरीकी द्विपक्षीय विदेशी आर्थिक सहायता अभी भी एशियाई लैटिन अमरीकी देशों को औद्योगिक विकास के लिए नही दी जाती बल्कि उसके द्वारा मनचाही दिशा में विकास हेतु दी जाती है जो अमरीका का हित संवर्द्धन अधिक करती है और प्राप्तकर्ता देश का कम संसार के अनेक देशों में अमरीका में अपने सैनिक अड्डे स्थापित किए। अनेक देशों के साथ उसने असमान व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए जिससे उसे उनकी आर्थिक व्यवस्था को अपने नियन्त्रण में रखने का अधिकार प्राप्त हो गया। पश्चिमी एशिया के तेल को अपने अपने अधिकार में लेने के लिए उसने वहां की राजनीति में हस्तक्षेप किया। साम्यवाद को रोकने के नाम पर उसने वियतनाम पर अत्याचार किए। लैटिन अमरीका को वह अपनी जागीर समझने लगा। अमरीका के उपरोक्त गतिविधियों के परिणामस्वरूप सर्वत्र उसे नव उपनिवेशवाद का प्रतीक समझा जाने लगा है।

अध्याय-पाँच

उपसंहार

अध्याय-5

उपसंहार

शक्ति के बल पर निर्बल राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाले साम्राज्यवादी शक्तियों के खूनी पंजे आज भी रक्त रंजित है। राजनीतिक सम्प्रभुता को बलपूर्वक छीनकर प्रभुत्वहीन राष्ट्र की राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों का क्रियान्वयन स्वयं के अनुकूल स्थापित करना इन साम्राज्यवादी ताकतों की फिरत सी बन गयी थी। परन्तु समय ने करवट ली। द्वितीय महासंग्राम सम्पन्न हुआ। विश्व राजनीतिक धरातल पर तमाम प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों का अभ्युदय हुआ। आर्थिक रूप से जर्जर तकनीकी दष्टि से बंजर इन नवोदित राष्ट्रों को वक्तने पुनः उन्हीं साम्राज्यवादी ताकतों के सम्मुख झोली फैलाने को मजबूर किया। नव उपनिवेशवाद और नव साम्राज्यवाद की शक्ल में पूर्व की साम्राज्यवादी ताकतें आज भी गरीब राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्थाओं पर आर्थिक नियन्त्रण तथा इसके द्वारा नये बने प्रभुता सम्पन्न पिछड़े हुए एशिया अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के राष्ट्रों की नीतियों पर नियन्त्रण रखती है। संरक्षित राष्ट्र प्रभाव के क्षेत्र समुद्र तथा विदेशी भू-भागों पर सैनिक अड्डे, सैनिक समझौते, अधिपत्यात्मक नीतियां (Hegemonistic Policies), तकनीक पर एकाधिकार, बहुराष्ट्रीय निगम, वित्तीय तथा तकनीकी एकाधिकार शस्त्र दौड़, विदेशी सहायता तथा ऋण, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं पर नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कड़ा नियन्त्रण, अमीर तथा निर्धन राष्ट्रों के मध्य आर्थिक असमानता को निरन्तर बनाए रखना तथा ऐसी अन्य साम्राज्यवादी कार्यवाहियां आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रवाहमान है।

नव-उपनिवेशवाद आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक नयी शाब्दावली है। यह एक आधुनिक संकल्पना है, जिसका उदय द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त हुआ। नव उननिवेशवाद में शक्तिशाली और अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राज्य का सम्बन्ध एक आर्थिक उपनिवेश या उपग्रह का होता है। विकासशील और तीसरी दुनिया के नव स्वतन्त्र देशों के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार विकसित होते जा रहे है कि नव स्वतन्त्र देश आर्थिक दृष्टि से दासता के शिंकजे में फंसते जा रहे हैं। चाहे भले ही राजनीतिक दष्टि से स्वतन्त्र ही क्यों ही नही परिलक्षित होते हें। आर० पी० दत्त के शब्दों में व्यापार और विदेशी सहायता ऊपरी तौर से तो नव स्वतन्त्र देशों के हित में लगते है किन्तु यथार्थ में ये आर्थिक शोषण में परिवर्तित हो जाते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात नव उपनिवेश शब्द प्रचलन में आया। आधुनिकतम शब्दावली होने के कारण इसे अभी ठीक ढंग से परिभाषित नहीं किया जा सका। परन्तु इसके साधनों एवं क्षेत्र जहां यह पुष्पित एवं पल्लवित होता, के आधार पर कुछ राजनीतिक विश्लेषकों ने नव-उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में लिखा है :-

Kwame Nkrumah के शब्दों में -

> "नव-उननिवेशवाद का सार यह है कि वह राज्य जो इसका शिकार है, सैद्धान्तिक रूप से स्वतन्त्र होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का तमगा उसके पास होता है ,परन्तु वास्तव में इसकी आर्थिक व्यवस्था तथा इसलिए इसकी राजनीतिक नीति बाहर से संचालित होती है।"

(The essence of Neo-Colonialism is that the state which is subject to it is in theory independent and has all the outward trappings of international sovereignty. In reality its economic system and that is its political policy is directed from outside.")

फ्रान्स के मार्क्सवाद ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि नये बने राज्यों को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के बावजूद इन पर उपनिवेशीय व्यवस्था की अधीनता अप्रत्यक्ष तथा विलक्षण रूप से तथा नये राज्यों की आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक तथा तकनीकी शक्तियों पर निरन्तर निर्भरता बनी रहती है"।[1]

राष्ट्रपति सुकार्नो ने उपनिवेशवाद के नये रूप नव-उपनिवेशवाद के बारे में बात करते हुए 1955 की बान्डुंग कान्फ्रेंस (Bandung Conference) को सम्बोधित करते हुए कहा था :-

"राष्ट्र के अन्दर छोटे से विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक नियन्त्रण, बौद्धिक नियन्त्रण तथा वास्तविक भौतिक नियन्त्रण के रूप में नये आधुनिक लिबास में उपनिवेशवाद है।"

आम भाषा में नव-उपनिवेशवाद नये बने प्रभुता सम्पन्न राज्यों पर पहली साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा निरन्तर आर्थिक नियन्त्रण की व्यवस्थाा है।

---

[1] R.P. Dutta Britain's, *Crisis of Neo- Colonisation* **International Affairs** Mascow, Jan 1968 P. 17

भारत में उपनिवेशवाद केरल के कालीकट नाम स्थान पर 1498 में व्यापार के निमित्त जिस पुर्तगाली का कदम पड़ा वह वास्कोडिगामा था। मसाला एवं वस्त्राभूषणों ने इस पुर्तगाली नागरिक को ऐसा स्वाद चखाया कि उसने यहां से मसाले एवं वस्त्र आदि का व्यापार शुरू कर दिया। इसका प्रभाव अन्य युरोपीय देशों पर पड़ा और वे भी यहां से व्यापार करने लगे जिससे आपसी प्रतिद्वन्दिता बढ़ गयी एवं एक दूसरे को पीछे-छोड़ने की प्रवृत्ति पनपी जो अन्ततः भारतीय राजनीति के अन्तःकहल के कारण भारत की सम्प्रभुता के लिए. चुनौती बना।

भारत एशिया महाद्वीप का ऐसा देश है जिसकी सामरिक एवं भौगोलिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। इसकी प्राकृतिक सीमा रेखाएं इसे चतुर्दिग सुरक्षा प्रदान करती हैं, परन्तु वैज्ञानिक अनुसन्धानों के समक्ष समस्त सीमाएं टूट चुकी हैं। पुर्तागाली, डच एवं फ्रान्सीसी एक के बाद एक करके भारत की धरातल पर अपने कदम रखते रहे परन्तु अंग्रेज एक ऐसी प्रजाति निकली जिसने सभी भौगोलिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सीमाओं को तोड़कर भारत में नये युग का सूत्रपात किया जैसा कि मार्क्स ने कहा था कि अरब तुर्क तातार तथा मुगल जिन्होंने एक के बाद एक कर भारत पर विजय हासिल की, शीघ्र ही इतिहास के एक शाश्वत नियम की पुष्टि करते हुए भारतीयां जैसे हो गये जिसमें बर्बर विजेता अपनी प्रजा की श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा परास्त कर लिए गये। अंग्रेज पहले विजेता थे जो भारतीय सभ्यता से अधिक ऊँचे तथा अगम्य थे। उन्होंने स्थानीय समुदायों को तोड़कर भारतीय सभ्यता को नष्ट कर दिया। स्थानीय उद्योग को जड़ से उखाड़ फेंका तथा स्थानीय समाज में जो कुछ उन्नत और श्रेष्ट था उसे मटियामेट कर दिया।

भारत में ब्रिटिश शासन के ऐतिहासिक पृष्ठ विनाश की कहानी के सिवाय और कुछ नही कहते।"

मार्क्स के उपरोक्त कथन का यदि विश्लेषण किया जाये तो यह निष्कर्ष निकलता है कि साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी देश कमजोर व अविकसित देशों की सम्प्रभुता का अतिक्रमण कर अपनी व्यवस्था एवं संस्कृति नेय नये तकनीकों के माध्यम से लागू करने की कोशिश करते हैं, तथा स्थानीय व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर देते हैं।

आज जबकि समय बदल चुका है फिर भी पुरानी बोतल में नयी शराब की तरह जहरखुरानों की शक्ल में अपनी नियति को अन्जाम दे रहे हैं और अल्पविकसित एवं तृतीय विश्व के देश विकसित देशों की बदनियति पर ध्यान दिये बगैर अपना राज काज चालू किए हुए हैं। साम्राज्यवादी ताकतों ने ऐसे सूक्ष्म यन्त्रों को ईजाद किया है जो तृतीय विश्व के देशों की राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था के लिए आवश्यक समझे जाते हैं तथा आन्तरिक रूप से विकासशील देशों की राजनीतिक एवं आर्थिक सम्प्रभुता के लिए चुनौती देते रहते है।

उपनिवेशवाद का नव-उपनिवेशवाद में परिवर्तन 1945 के बाद के काल मे हुआ। इसके कई कारण हैं :-

(1) युरोपीय शक्तियों की कमजोर हुई स्थिति
(2) साम्राज्यवाद के विरूद्ध चेतना की उत्पत्ति
(3) विकसित राज्यों की विकासशील राज्यों के साधनों पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता
(4) नये राज्यों की विकसित राज्यों पर निर्भरता
(5) शीत युद्ध की शक्ति राजनीति का प्रभाव
(6) अमरीका तथा भूतपूर्व सोवियत संघ की नीतियां।

उपरोक्त सभी तत्व उपनिवेशवाद को नव-उपनिवेशवाद बदलने के लिए उत्तरदायी रहे हैं।

धनी तथा शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा नव-उपनिवेशवाद को कार्यान्वित करने के लिए कई निश्चित साधन हैं। नव-उपनिवेशवाद स्थिति में रह रहे राज्यों पर नियन्त्रण रखने के लिए साधरणतया निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(1) नव-उपनिवेशीय राज्यों की आन्तरिक राजनीति में हस्तक्षेप के द्वारा (Through intervention in the internal politics of Neo-Colonial States)

(2) शस्त्रों की आपूर्ति (Supply of Arms)

(3) विदेशी सहायता तथा ऋण का प्रयोग (Use of Foreign Aid and Loans)

(4) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण (Control through International Economic Institutions)

(5) बहुर्राष्ट्रीय निगमों द्वारा नियन्त्रण (Control through Multinational Corporations)

(6) आर्थिक रूप से आश्रित राज्य या निर्भरताएं बनाकर (By Creating Economic Dependencies)

(7) अनुषंगी राज्य बनाकर (By Creating Satellite States)

उपरोक्त नव-उपनिवेशवादी तकनीकों का सिलसिलेवार अध्ययन इस प्रकार है-

युरोप की धरती पर दो महासमर युरोप की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में उथल-पुथल के कारण बने, जिससे उन के साम्राज्यवादी व्यवस्था को कायम रखना उनके लिए भारी पड़ने लगा। उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के कारण परम्परावादी साम्राज्यों को जारी रखना कठिन हो गया। उपनिवेशों की समाप्ति तथा साम्राज्यवाद विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के युद्धोत्तरकाल के दृढ़ आन्दोलनों के कारण बड़े बड़े उपनिवेशीय साम्राज्य समाप्त हो गये तथा इनके परिणाम स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नये प्रभुता सम्पन्न राज्य बन गये। तथापि पुरानी उपनिवेशक शक्तियां यह अच्छी तरह महसूस करती रहीं कि उन्हें अपनी आवश्यकताओं के लिए नये राज्यों के साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है जिसके लिए उन्होंने शीघ्रता से आर्थिक नियन्त्रण का एक नया उपकरण ढूंढ़ लिया। इससे उपनिवेशवाद नव-उपनिवेशवाद में बदल गया।

दूसरे स्थान पर साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए उपनिवेशों पर अपना शासन जारी रखने के लिए कोई औचित्य नही मिल रहा था। क्योंकि राजनीतिक जागरूकता फैल चुकी थी तथा अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter) और बाद में संयुक्त राष्ट्र (United Nations) के चार्टर द्वारा दिए गये आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकृति मिल चुकी थी। इसके अतिरिक्त बहुत से मुख्य देशों जैसे भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन (National Liberation Movement) ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को मजबूर कर दिया कि वे अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्र कर दें, परन्तु बाद में वे उनकी नीतियों पर नियन्त्रण रखने के प्रयत्न करने लगे।

साम्राज्यवादी शाक्तियों को कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने के लिए मण्डियों की आवश्यकता ने भी उन्हें मजबूर कर दिया कि एशिया तथा अफ्रीका के देशों पर जिन्होनें 1945 के बाद सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों का स्तर प्राप्त कर लिया था अपना आर्थिक नियन्त्रण कायम रखे। साम्राज्यवादी शक्तियों ने नये विलक्षण तथा अप्रत्यक्ष आर्थिक तरीकों से अपने आर्थिक हितों को पूरा करने का निश्यच किया। पुरानी उपनिवेशीय व्यवस्था को छोड़ देने के लिए मजबूर किए जाने पर उन्होंने नव-उपनिवेशवाद की ओर जाना शुरू कर दिया। नव-उपनिवेशवाद का अर्थ है पुराने उपनिवेशों पर व्यवस्थित आर्थिक प्रधानता। इस उद्देश्य के लिए जो सबसे आम साधन उन्होंने अपनाया वह था-पहले बड़े-बड़े संगठित उपनिवेशों को तोड़कर छोटे अव्यवहार्य राज्यों में बदलना जो स्वतन्त्र आर्थिक विकास के लिए अक्षम हों तथा जिन्हें मजबूरी में अपनी सुरक्षा तथा आवश्कयताओं के लिए अपने पुराने साम्राज्यवादी स्वामियों पर विश्वास करना पड़े।

दक्षिण एशिया के अधिकांश देश भारत, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, माल द्वीप, बंगलादेश तथा श्री लंका भारतीय उपमहाद्वीप के परिक्षेत्र में आते हैं। इसमें अधिकांश देश भारत के ही अंग हैं जो साम्राज्यवादियों की कुत्सित नीतियों के कारण सम्प्रभु राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में आये। पाकिस्तान का पश्चिमी शक्तियों की उंगलियों पर थिरकना, बंगला देश द्वारा भू-आधार (Land Base) के लिए प्रस्ताव करना उनकी आर्थिक तंगी एवं राजनीतिक उथल-पुथल के कारण हो रहा है जिसका फायदा साम्राज्यवादी ताकतें उठा रही हैं।

नये राष्ट्रों की अपना कच्चा माल बेचने तथा तैयार माल खरीदने के लिए पुराने उपनिवेशक राज्यों पर निर्भरता ने भी

नव-उपनिवेशवाद को जन्म दिया। उनकी परम्परागत उपनिवेशक शक्तियों पर आर्थिक निर्भरता स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी जारी रही। अपने लोगों की भलाई के लिए उनकी बढ़ी हुई आवश्यकताओं ने भी इन राष्ट्रों को मजबूर कर दिया कि वे पुरानी उपनिवेशीय शक्तियों के आर्थिक नियन्त्रण को स्वीकार कर ले। भारत की ब्रिटेन तथा अन्य युरोपीय पश्चिमी देशों पर निर्भरता के कारण ही यह कामनवेल्थ (Commonwealth) का सदस्य बना तथा दूसरे राष्ट्रों के संघ सम्बन्ध रख सका।

युद्धोत्तर काल में शीत युद्ध शुरू हुआ तथा परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दो विरोधी गुट प्रकट हो गये जिससे नये राष्ट्रों के लिए बड़ी कठिनाई खड़ी हो गयी। बहुत से नये राष्ट्रों के लिए किसी एक गुट के साथ होना आवश्यक हो गया तथा उन्हें आर्थिक सहायता तथा सैनिक उपकरण मिल सके। भरत के सम्मुख भी इसी समस्या ने हस्तक्षेप किया पर पंडित नेहरू की दूरदर्शिता ने साम्राज्यवादियों के करतूत को भांप लिया और निर्गुट आन्दोलन (Non-Alignment Movement) का बिगुल बजाया तथापि यह भी उनके प्रभाव को पूर्णतया निष्प्रभावी नहीं कर सका।

शीत युद्ध के इस युग में जो महाशक्तियां अपने प्रभाव के क्षेत्र को विस्तृत करना चाहती थी इसके लिए उन्होंने नये राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताओं का शोषण करने का निश्चय किया। विदेशी सहायता, ऋण, शस्त्र पूर्ति, अन्र्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था, आर्थिक संस्थाओं तथा बहुराष्ट्रीय निगमों पर नियन्त्रण आदि के साधनों द्वारा वे अपने लिए आर्थिक अधीनस्थ उपग्रही राज्य पैदा करने में सफल हुईं। आर्थिक निर्भरता वाला राज्य एक प्रभुत्ता सम्पन्न राष्ट्र होता है जिसके हित

शक्ति शाली तथा धनी राज्य द्वारा नियन्त्रित होते हैं। उपग्रही एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र होता है जिसकी अर्थव्यवस्था धनी तथा शक्तिशाली राष्ट्रों पर निर्भर करती है तथा उनके साथ जुड़ी होती है। अमरीका तथा दूसरी पश्चिमी शक्तियां अपने आर्थिक निर्भरता वाले राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नव-उपनिवेशवाद को कार्यान्वित करने के लिए प्रयोग करती रही है।

अज्ञानता के साथ-साथ निम्न अधिकतर सीमित तथा पराधीन राजनीतिक संस्कृति नये बने प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों की राजनीतिक व्यवस्था का प्रमाण चिन्ह है। पहले की साम्राज्यवादी शक्तियां इन राज्यों के अपने अपने गुट प्राय सर्वोत्कृष्ट या विशिष्ट वर्ग रखती है जो वास्तविक शक्ति के लिए संघर्षरत रहते है। एक विशेष स्वामी-भक्त गुट दूसरे ग्रुपों के विरोध में समर्थन करके साम्राज्यवादी शक्तियां नव-उपनिवेशवाद के शिकार राष्ट्रों की आन्तरिक नीतियों में हस्तक्षेप तथा उन्हें प्रभावित करने लग जाती हैं। कठपुतली शासन (Puppet Regime) का समर्थन करके या ऐसे राज्यों में इच्छित सैनिक या असैनिक चालें चलकर साम्राज्यवादी शक्तियां इन राष्ट्रों की नीतियों पर नियन्त्रण रखने के सक्षम हो जाती हैं। निस्संदेह यहां दोष नये बने स्वतन्त्र राष्ट्रों का अपना भी होता है अपने आन्तरिक विरोधों तथा समस्याओं के कारण ऐसे राज्यों में राजनीतिक स्थिरता नही होती। इन राज्यों में बार-बार होने वाले सैन्य विप्लव शक्तिशाली राष्ट्रों विशेषतया महाशक्तियों को पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं कि वे इन राज्यों पर अपनी शक्ति को स्थापित कर सकें। कांगो (Congo) ज़ायरे (Zaire) नाइजीरिया (Nigeria) राज्य विप्लवों तथा प्रतिकूल राज्य-विप्लवों का शिकार रहे हैं तथा इसलिए शक्तिशाली तथा विकसित राष्ट्रों के द्वारा

नव-उपनिवेशवाद को लागू करने के लिए ये राष्ट्र तैयार ही होते हैं। अफगानिस्तान में भूतपूर्व सोवियत संघ का हस्तक्षेप तथा ग्रेनाडा तथा पनामा, निकारागुआ तथा दूसरे मध्य अमेरीकी देशों में अमेरीका का हस्तक्षेप हाल ही के उदाहरण हैं। जो नव-उपनिवेशवाद को बनाए रखने के लिए इस साधन के प्रयोग की विशिष्टता बतलाते हैं।

अनेक झगड़ों का विद्यमान होना तथा शीतयुद्ध का तनाव नये बने प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों के लिए सुरक्षा का बड़ा स्रोत बना। सुरक्षा की इच्छा इन राष्ट्रों की निरन्तर तथा बड़ी इच्छा बनी रही है। परिणामस्वरूप ये राष्ट्र विकसित तथा शक्तिशाली राष्ट्रों से शस्त्र तथा सैन्य उपकरण लेने के लिए उत्सुक रहते हैं।

अपनी सैन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर होने में अपनी अयोग्यता के कारण वे सदैव शक्तिशाली राष्ट्रों पर निर्भर रहते है। शक्तिशाली राष्ट्रों ने शस्त्रों तथा सैनिक साजो सामान की आपूर्ति या विक्रय को नव-उपनिवेशवादी राज्य पर नियन्त्रण करने के लिये सदैव एक साधन के रूप में अपनाया है।

सबसे अधिक सामान्य तथा सबसे अधिक शाक्तिशाली साधन जो नव-उपनिवेशीय शक्तियां अपनायी हैं वह है विदेशी सहायता तथा ऋण है। विदेशी सहायता का अर्थ है आर्थिक, भौतिक, तथा तकनीकी सहायता जो एक दाता राष्ट्र (Donor) प्रायः धनी राष्ट्र गरीब पिछड़े हुए तथा जरूरतमन्द तथा सहायता प्राप्ति के इच्छुक राष्ट्र को देता है। मारगान्थो के शब्दों में :-

> विदेशी सहायता का अर्थ है पैसे का, वस्तुओं का तथा एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र प्राप्तकर्ता तथा स्थानान्तरण। यह धनी तथा विकसित राष्ट्रों द्वारा

निर्धन तथा कम विकसित राष्ट्रों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता की व्यवस्था है।

(Foreign aid implies the transfer of money, goods and sorvices from one nation donor to another recipient. It is a system of economic assistance to the poor and lowly developed nations by the rich and developed nations-Morgenthau)

लगभग 70 प्रतिशत साधनों की तथा दुनिया की लगभग 30 प्रतिशत जनसंख्या वाले उच्चस्तरीय धनी और विकसित राष्ट्रों की तुलना में लगभग तीस प्रतिशत साधनों पर तथा लगभग सत्तर प्रतिशत जनसंख्या वाले कम विकसित राष्ट्रों का प्रादुर्भाव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आर्थिक असन्तुलन का कारण बना हुआ है। ये अल्प विकसित राष्ट्र वे हैं जो साम्राज्यवाद के चंगुल में सदियों से फँसे पड़े थे और जिन्होनें 20वीं शताब्दी के अर्द्धशदी में स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। ये आर्थिक तथा तकनीकी रूप से पिछड़े हुए राष्ट्र है जो विकसित राष्ट्रों पर अभी भी निर्भर करते हैं। ये विकसित राष्ट्र अधिकतर पहले वाली ही साम्राज्यवादी शक्तियां हैं जो तकनीकी रूप से बहुत आगे निकल गयी हैं तथा जो बहुत अमीर राज्य हैं।

अल्प विकसित राष्ट्रों के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने तथा आर्थिक विकास के लिए सहायता धनी राष्ट्रों से प्राप्त करनी पड़ती है। उनके लोगों की आवश्यक प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करना अत्यन्त आवश्यक होता है। धनी राष्ट्र यह भी अनुभव करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए

मानवता के नाम पर गरीब राष्ट्रों की सहायता करना तथा विकसित राष्ट्रों की फैक्ट्रियों में बने माल के उपभोक्ता के रूप में उन्हें कायम रखना आवश्यकय है।

नव-उपनिवेशक राज्यों में विदेशी पूँजी के निवेश का उद्देश्य इतना विकासशील क्षेत्रों को विकसित बनाने के लिए नहीं होता है जितना विकसित राष्ट्रों के हितों को प्रोत्साहन देने के लिए होता है। (The Foreign aid capital invested in the neo-colonialist state is meant not so much for the development of the less developed areas but for the promotion of the interests of the developed countries).

विदेशी सहायता को सदैव दाता राष्ट्र की विदेशनीति के उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है तथा यह सहायता कभी भी प्रतिबन्धों के बिना नही दी जाती। अमेरीकी पी० एल० 480 के अधीन शान्ति के लिए भोजन (Food for Peace) सहायता अमेरीका के अतिरेक उत्पादन का प्रणालन (Channelise) करने के लिए तथा प्राप्तकर्ता राष्ट्रों को अमेरीका पर निर्भर करने के लिए दी जाती रही है। तीसरे विश्व के निर्भर तथा निम्न-स्तरीय विकासशील उपनिवेशीय राष्ट्रों को विदेशी सहायता से लाभ तो कम ही हुआ परन्तु वास्तव में इससे तीसरे विश्व के राज्यों की निर्भरता ऐसी सहायता से और अधिक सीमा तक बढ़ गयी।

युद्धोत्तर काल की अर्थव्यवस्था कई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं जैसे विश्व बैंक (Word Bank), International Bank for Reconstruction and Development (IBRD) IFC, India

Development Association-IDA आदि द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित है। जब नये राष्ट्र इन नये संस्थाओं से ऋण तथा सहायता लेना चाहते हैं तो धनी राष्ट्र अपने नियन्त्रण का प्रयोग उनसे अपने पक्ष में आर्थिक नीति निर्णय प्राप्त करने के लिए करते हैं। IMF द्वारा ऋण या सहायता देने के रूप में जो कोष अनुदान किया जाता है वह सदैव राजनीतिक प्रतिबन्धों तथा इसके साथ-साथ धनी राज्यों के हितों द्वारा संचालित होता है जो कि वास्तव में इन संस्थाओं का नियन्त्रण करती है। तीसरे विश्व द्वारा नयी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था NIEO (New International Economic Order) की मांग इसी चीज़ को लेकर की गयी है कि यह संस्थाएं वास्तव में विश्व के सभी राष्ट्रों के हितों को प्रोत्साहन देने के लिए वास्तविक रूप से प्रभावशाली हो सकें। इस समय तो ये संस्थाएं नव-उपनिवेशवाद की संस्थाएं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए विकसित राष्ट्र इनका पूरी तरह प्रयोग कर रहे हैं तथा इन पर इनका पूरा नियन्त्रण है।

नव-उपनिवेशवाद के सबसे महत्वपूर्ण उपकरण बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporations) हैं। ये बहुराष्ट्रीय निगम धनी निर्देशकों द्वारा विश्व के सभी भागों के आर्थिक तथा औद्योगिक उद्यमों को नियन्त्रित करने के लिए बनायी गयी हैं। ये बहुत से राष्ट्रों में कार्यरत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारी संगठन हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी, व्यापार, वाणिज्य, उत्पादन तथा वस्तु वितरण पर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए कार्य कर रहे हैं। विभिन्न एकाधिकारों से सम्बन्धित अधिकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकस्व (International Patent) के द्वारा ये बहुर्राष्ट्रीय निगम अपने स्वामियों अर्थात धनी तत्वों के लिए बड़े-बड़े

लाभ प्राप्त करने की स्थिति में हैं। अन्तर्राष्ट्रीय फर्मो जैसे IBM, GEC, Standard Oil आदि के पास तो कई प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों की सरकारों की अपेक्षा अधिक शक्ति है। स्टैंडर्ड ऑयल का अन्तर्राष्ट्रीय लाभ उसके अपने देश के लाभ से चार गुणा है जबकि केवल इसकी एक तिहाई सम्पत्ति का ही विदेशों में निवेश किया गया है। बहुराष्ट्रीय निगम एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के बहुत से राष्ट्रों पर अपना पूरा शक्तिशाली प्रभाव रखे हुए हैं।

बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियां तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को शीतल पेय बेचती हैं और तेल खरीदती हैं। विदेशी शीतल पेयों में 99 प्रतिशत पानी और एक प्रतिशत गुप्त सूत्र वाला रसायन होता है। 99 प्रतिशत पानी तो स्थानीय होता है और उसमें एक प्रतिशत रसायन मिलाकर ये कम्पनियां इस शीतल पेय को 25 से 30 रू० प्रति लीटर 4,000 रूपया से 5,000 रूपया प्रति बैरल की दर से बेचती हैं। दूसरी ओर तीसरी दुनिया से आयाति तेल की कीमत मात्र 450 रू० प्रति बैरल की दर से चुकाती है। अपनी न्यस्त स्वार्थो की पूर्ति के लिए बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों के तौर-तरीकों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरणों से और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(1) मध्यपूर्व के तेल भण्डार के अधिकांश भाग पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। इस क्षेत्र में साम्राज्यवाद विशेषकर अमेरीकी साम्राज्यवाद कठपुतली इजराइल के माध्यम से उन अरब देशों पर अकारण हमला करवाता रहा है जो राष्ट्रीय प्राकृतिक संसाधनों पर अपना नियन्त्रण करना चाहते हैं।

(2) अंगोला के सोने, लोहे तथा तेल के भण्डारों पर बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा था। एम० पी० एल० ए० के नेतृत्व में अंगोला की आजादी का अर्थ लोहे, सोने तथा तेल भण्डारों का बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ से निकल जाना है। इसकी रक्षा के लिए अमेरीका तथा दक्षिण अफ्रीका ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ठुकराकर सन 1975 में अंगोला की वैध सरकार पर हमला कर दिया था।

(3) लैटिन अमरीका के केला निर्यात पर बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों का कब्जा है। केला निर्यातक देशों को केलों के डालर आय पर मात्र 115 सेण्ट प्राप्त होता था। केले की आय से कुछ अधिक हासिल करने के लिए केले पर निर्यात कर लगाया। जवाब में एक कम्पनी ने कर के बजाय 1,45,000 केले की पेटियों को नष्ट कर दिया दूसरी कम्पनी ने अधकारियों को 15 लाख डालर की घूस देकर 70 लाख बचा लिया।

(4) अपने उत्पादन के लिए अधिक से अधिक आर्डर प्राप्त करने हेतु और विभिन्न देशों की आन्तरिक राजनीति को अपने अनुकूल बनाने के लिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विभिन्न देशों के मन्त्रियों तथा अधिकारियों को रिश्वत देती हैं। लाकडीह, नार्थरोप, गुडइयर तथा फैजर आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विभिन्न देशों में रिश्वत देने के समाचार हाल ही में प्रकाश में आये हैं । यह तथ्य उजागर हो चुका है

कि भारत में बोफोर्स तोप सौदे तथा एनरान कम्पनियों ने रिश्वत देकर सौदे पटाए। इस प्रकार रिश्वत देकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां सालाना 1,500 करोण डालर का मुनाफा कमाती हैं।

(5) मार्च 1948 में भारत में कुल विदेशी पूँजी 256 करोण रूपये के बराबर थी परन्तु 1950 में केवल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पूँजी बढ़कर 1,285,29 करोण के बराबर और 1972–73 में 2,821.8 करोण रूपये के बराबर हो गयी। अर्थात 22 वर्ष की अवधि में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पूंजी में 10 गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई। मई 1976 में संसद में दी गयी सूचना के अनुसार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की 538 शाखाएं (वैसी कम्पनियां जिनका मुख्यालय भारत के बाहर साम्राज्यवादी देशों में है) और 202 सहयोगी कम्पनियां वैसी भारतीय कम्पनियां जिनकी पेडअप पूंजी का 50 प्रतिशत से अधिक भाग किसी न किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित है भारत में कार्यरत थी। 31 दिसम्बर 1996 की स्थिति के अनुसार भारत में 741 विदेशी कम्पनियां कार्यरत थीं। समग्र निवेश के आधार पर इन्डियन अल्युमीनियम और बिक्री के आधार पर हिन्दुस्तान लीवर भारत में कार्यरत सर्वाधिक बडी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हैं। इसके अतिरिक्त डनलप इण्डिया, युनियन कार्बाइड, फिलिप्स इण्डिया, बाटा इण्डिया, बर्मा , शैल साइमैन्स

इण्डिया, अशोक लेलैण्ड, ब्रुकवाण्ड, गुडइयर, फाइजर आदि भारत में कार्यरत प्रमुख बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियां हैं।

लगभग 10 प्रतिशत महत्वपूर्ण भारतीय आबादी पर इन कम्पनियों की जबरजस्त पकड है। आमतौर पर महिला की ड्रेसिंग, टेबुल पर पड़े श्रृंगार प्रसाधन, बहु-राष्ट्रीय निगम के उत्पादन हो सकते हैं। उसका साबुन, शैम्पू, क्रीम, लिपिस्टिक वगैरह सब। सिगरेट पीने वालों में से ज्यादातर लोग हर कश के साथ ब्रिटिश निगम को रायल्टी दे रहे हैं। टूथपेस्ट और टूथ-ब्रश अमरीकी या स्विटजरलैण्ड की फर्म का हो सकता है। गाँव के दूर-दराज इलाकों में काम आने वाली टार्चो और बिजली के बल्बों के जरिए हालैण्ड, अमरीका और जापान के निगम हमारे गाँवों तक छा रहे है। चाय, काफी, ठंण्डा पेय आदि से लेकर देश में बनने वाली विदेशी शराब का हर घूंट के साथ इनका हिस्सा जुड़ा हुआ है।

भारत में कार्यरत बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दवा उद्योग की कुल पूँजी के 60 प्रतिशत और उत्पादन को नियन्त्रित करती हैं। सन 1973-74 के वित्तीय वर्ष में दवा उद्योग में विनियोजित कुल 225 करोण रूपये की पूँजी में 135 करोण रूपये को पूँजी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की थी। ये कम्पनियां प्रतिवर्ष 80 करोण रूपये देश के बाहर भेजती हैं। कम्पनियां कफ सिरप, विटामिन टॉनिक जैसी दवाओं के उत्पादन में विशेष दिलचस्पी रखती हैं जहां मुनाफे की ऊँची दर है, भले ही जीवन रक्षा के लिए इनका कम महत्व है। दूसरी तरफ रक्षक दवाओं के उत्पादन में इन्हें कोई उत्साह नही है क्योंकि कि यहां मुनाफे की दर नीची है।

भारत में कार्यरत 317 बड़ी कम्पनियों ने वर्ष 1993 में 10 हजार करोण से अधिक की विदेशी मुद्रा देश से बाहर भेजी जबकि यही राशि उदारीकरण से पूर्व 4 हजार करोण रूपये से भी कम रही है।

तृतीय विश्व के देशों और खासतौर से इन बहुराष्ट्रीय निगमों के कामकाज को देखने के बाद ऐसा लगता है कि इनसे मिलने वाला लाभ ऊपरी ऊपरी है। तकनीकी का स्थानान्तरण यदि मशीन निर्माण में आत्मनिर्भरता पैदा नही करे तो विकासशील देश विदेशों पर निर्भर हो जायेंगे। इसलिए वह कहना ही होगा कि ये बहुराष्ट्रीय निगम उपनिवेशवाद के संक्रमण काल का नया चरण हैं।

नव-उपनिवेशवाद वास्तव में उपनिवेशवाद ही है और यह उतनी ही बुरी तरह हानिकारक व्यवस्था है, जितनी उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद की व्यवस्था थी। शोषण तथा पिछड़ेपन का अभिशाप, नये बने राज्य पर अब भी अपने सभी बुरे प्रभावों के साथ विद्यमान है। नव-उपनिवेशवाद के अधीन भी उनकी स्थिति कमजोर तथा निम्नकोटि की है। राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र तथा प्रभुता-सम्पन्न होना गर्व की बात है, परन्तु आर्थिक रूप से निर्भर उपनिवेशीय राज्य होना तीसरी दुनिया के राज्यों के लिए बड़ी खतरनाक तथा हानिकारक स्थिति है। नव-उपनिवेशवाद के अधीन शक्तिशाली तथा धनी राज्य नव-उपनिवेशीय राज्यों की नीतियों पर बड़ा विलक्षण तथा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण रखे हुए हैं। गरीब तथा पिछड़े हुए राज्यों जिन्हें सामूहिक रूप से दक्षिण कहा जाता है का अमीर तथा शक्तिशाली राष्ट्रों जिन्हें उत्तर कहा जाता है द्वारा आर्थिक शोषण अब भी प्रायः अक्षुण्ण (Unabated) है। इस तरह साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरूद्ध युद्ध अभी पूरा नहीं हुआ है। अब नव-उपनिवेशवाद के विरूद्ध युद्ध

की आवश्यकता है। अमीर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर एकाधिकारिक नियन्त्रण रखकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपनी श्रेष्ठ स्थिति बनाए रखने के लिए दृढ़ निश्चयी हैं। इसके विपरीत तीसरे विश्व राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का पुनिर्माण करने के लिए समान रूप से दृढ़ निश्चयी हैं ताकि अर्थव्यवस्था को सबके लिए समान तथा न्यायिक बनाया जा सके। शीत युद्ध के अन्त ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की पुनः संरचना के विषय को समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण विषय बना दिया है। आज आवश्यकता है सभी प्रयत्नों को इकठ्ठा करने की ताकि नयी आर्थिक व्यवस्था कायम की जा सके, तथा विकसित और विकासशील राज्यों के समतल आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना की जा सके। इस सम्बन्ध में विकासशील देशों को आपसी आर्थिक सहयोग (South-South Economic Cooperation) की नीति पर चलना चाहिए। इसके द्वारा ही वह अपने आर्थिक हितों की रक्षा कर उत्तर के देशों को नीओ (NIEO) की स्थापना के लिए प्रेरित अथवा विवश कर सकते हैं तथा नव-उपनिवेशवादी नियन्त्रण से छुटकारा पा सकते हैं। सिर्फ इसी से नव-उपनिवेशवाद की जड़ों पर सीधा आक्रमण किया जा सकता है। तथा इसकी समाप्ति को सम्भव बनाया जा सकता है।

साम्राज्यवादी विचारधारा को निष्फल करने की लेनिन, काट्स्की तथा हाब्सन के विचार तभी धरातल पर लागू हो सकते हैं जबकि विकसित एवं अल्प विकसित राष्ट्रों में आय के वितरण में न्यूनतम असमानता हो। यहा तभी सम्भव हो सकता है जबकि दोनों धनी तथा निर्धन की सोच नेक हो। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में नियन्त्रण की प्रवृत्ति

को समाप्त कर अल्प विकसित राष्ट्रों को उसका सदस्य बनाया जाय तथा हर प्रकार की स्वायत्ता दी जाय। (UNO) जो कि विश्व की एक संस्था है जिसमें विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व है फिर भी उपनिवेश वाली ताकतें अपने स्वार्थ के अनुकूल उस का उपयोग करते हैं। अभी हाल में इराक में नियन्त्रण स्थापित करने हेतु (UNO) से जो विनाषक हथियार निरीक्षण प्रस्ताव पास कराया गया और जिस प्रकार से संयुक्त राष्ट्र निरीक्षण दल ने निरीक्षण का काम संपादित किया वह ये साबित करता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अब संयुक्त राज्य अमरीका हो गया है।

वक्त की माँग है कि तृतीय विश्व के देश संयुक्त रूप से इस दानव से लड़ने के उपाय खोजकर इसे विश्व धरातल से दूर करें।

SELECT BIBLIOGRAPHY

पुस्तक सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

SELECT BIBLIOGRAPHY
GENERAL BOOKS
चयनित पुस्तक सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

समान्य पुस्तकें

Alberj and Alberj : *Europe From 1914 to Present*

Alexander R. : *From Paris to Locarne*

Almond, G.A. : *The American People and Foreign Policy*

Arora S.K. : *American Foreign Policy Towards India*

Backer, R.S. : *Woodrow Wilson and Peace Settlement*

Bailey,T.A. : *Russian American Relations*

__________ : *Woodrow Wilson and The lost Peace*

Bailes, Sydney. D. : *United Europe*

Bains, J.S. : *India's International Disputes*

Bartlett, V. : *Struggle for Africa*

Baynes N.H. : *The speaches of Adolf Hitler*

Beard, C.A. : *American Foreign Policy in Making 1939-40*

Beloff M : *The Foreigr Policy of Soviet Russia*

Bengunion D : *The Re-birth and destiny of Israel*

Bertrand ,Russell : *The Unarmed Victor*

Bhardwaj K.P. : *Peaceful Co-existence*

Blackett, P.M.S. : *Atomic Weapons and East-West Relations*

Braine B. : *Will India Stay in Commonwealth?*

Breakes, R.N. and Nedo M.S. : *The Diplomacy of India*

Bowlos,C. : *The New Dimensions of Peace*

__________ : *Ambossador's Report*

Bull and Killough : *International Relations*

Carr. E.H. : *Great Britain: A Study of Foreign Policy*

__________ : *From the Versailles Treaty to the Outbreak of war.*

__________ : *International Relations between the two wars.*

Chamber Harris & Bnilgy : *This Age of Conflict*

Chandra Prakash : *International Relations*

Chamberlain : *Japan Over China*

Chaemers H : *Word Trade Politics*

Chakravarti P.C. : *Indo-China Relations*

Chiprman W. : *India's Foreign Policy*

Churchill W.S. : *The World Memoirs*
_______________ : *The Gathering Storm*
_______________ : *The Aftermath 1918-1928*

Cheever and Hairland : *Organising for Peace*

Clark R.T. : *The Fall of German Republic*

Clemarcean G. : *Grandenure and Misery Victory*

Commager H.S. : *The Story of Second World War*

Coyajee J.C. : *India and League of Nations*

Coakshaw E. : *Russia Without Stalin*
_______________ : *The New Cold War- Moscow Vs Peking*

Desai, A.R. : *Social Background of Indian Nationalism*, Bombay, 1959.

Dillin E.J. : *The Inside Story of the Peace Conference*

Gulles F.R. : *America in Pacific*
_______________ : *War and Peace*

Durgades : *India and the World*

Dutta U.P. : *China's Foreign Policy*

Eagleton C : *International Government*

Eisenhower D.D. : *Crusade in Europe*

Ellis W.E.	:	*A Short History of American Diplomacy*
Engely, G.	:	*A Short History of International Affairs*
Fisher S.N.	:	*The Middle East*
Friedman W	:	*An Introduction of World Politics*
Frye R.N.	:	*The Near East and the Great Powers*
Fuller J.F.O.	:	*Armaments and History*
Gathorn Hardy	:	*The Fourteen Points and the Treaty of Versailles*
Gedye G. E.R.	:	*Betrayal in Central Europe*
Goodrich and Hambro	:	*Commentary on the Charter of U.N.*
Gunther J	:	*Inside Afric*
______________	:	*Inside Europe*
______________	:	*Inside Asia*
______________	:	*Inside America*
Government of India	:	*White Paper on India-China Relations*
Gupta Karunakar	:	*India's Foreign Policy*
Haines and Hoffman	:	*Origin and Background of Second World War*
Hartman F.H.	:	*The Relations of Nations*
Haviland H.F.	:	*The Political Role of General* Assembly
Hoffmen Stanley	:	*Contemporary Theroy in International Relations*
Huneuritiz J.C.	:	*The Struggle for Palestine*

Hyamson A.M.	:	*Palestine Under the Mandate*
Ismail M	:	*India and Her Neighbours*
Ingram H	:	*Years of Crisis*
Jarman T.L.	:	*The Rise and fall of Nazi Germany*
Jasthy Anam	:	*International Politics Major Contemporary Trends and Issues*
Kachroo J.L.	:	*India and the Commonwealth*
Kamath M.V.	:	*India and the United Nations*
Kaplan M.A.	:	*System and Process in International Politics*
Karunakaran K.P.	:	*India & the World Affairs (2 Vols)*
Kaul B.M.	:	*The Untold Story*
Kannan G.F.	:	*Soviet American Relations*
Kissinger H.A.	:	*Nuclear Weapons and Foreign Policy*
Kundra J.C.	:	*Indian Foreign Policy*
LaQneur W.Z.	:	*The Middle East in Transition*
Lattourette, K.S.	:	*A short History of the Far East*
________	:	*The History of Japan*
Lenzovasky Q	:	*Middle East in World*
Levi W	:	*Free India in Asia*
________	:	*Fundamentals of World Organisations*
Lie, Trygve	:	*In the Cause of Peace*
Low F.	:	*Struggle for Asia*

12- Luke H.		Turkey
Lyon ,Peter	:	*Neutralism*
Macarthey, M.H.H. and Cremond, P.	:	*Italy's Foreign and Colonial Policy*
Madan Gopal	:	*India as a World Power*
Mankokar, D.R.	:	*Twentytwo Fateful Days*
Manjowe, G.J.	:	*A Short History of International Organisation*
Miller, D.H.	:	*Drafting of Covenant*
________	:	*The Geneva Protocol*
________	:	*The Pact of Paris*
Ministry of Foreign Affairs, Government of India	:	*Foreign Affairs Records*
Molotov, V.M.	:	*Problem of Foreign Policy*
Molotov, B.D.	:	*Khruschev and Stalin*
Morley, F.	:	*The Foreign Policy of the United States*
Mowet, E.C.	:	*An Introduction to the Study of International Organisation*
Murthy, K.S.	:	*Indian Foreign Policy*
Nanporiya, N.J.	:	*The Sino-Indian Dispute*
Natrajan, L.	:	*The American Shadow over India*

Nehru, Jawaharlal	:	*Speeches on India's Foreign Policy*
______________	:	*The Discovery of India*
______________	:	*An Autobiography*
Nicholas, H.G.	:	*The United Nations as a Political Institution*
Nicholas, J.S.K.	:	*American Strategy in World Politics*
Nutting, Anthony	:	*Disarmament : An Outline of the Negotiations*
Oppenheim, L.	:	*International Law*
Pannikar, K.M.	:	*The Two Chinas*
______________	:	*Regionalism and Security*
______________	:	*India and the Indian Ocean*
______________	:	*Afro-Asian States and their Problems*
Padelford, N.J.	:	*International Politics*
	:	*Foundations of International* Relations
Palmer and Perkins	:	*International Relations*
Patel, S.R.	:	*Foreign Policy of India*
Payne, R.	:	*The Revolt of Asia*
Philip, C.J. & Talbott, P.	:	*A Modern Law of Nations*
Potter, P.B.	:	*An Introduction to the Study of International Organisation*
Prasad, B.	:	*Origins of Indian Foreign Policy*

Sein-Watson, K.W. : *From Munich to Danzig*

Theodore, C.S. : *The United States as a Factor in World History*

Thomson, D. : *French Foreign Policy*

———— : *Europe since Napolean*

United Nations : *Year Book of United Nations*

Verma, D.N. : *India and the League of Nations*

Vinake, H. : *The United States in the Far East*

Walker, R.L. : *China Under Communism*

Ward, Barbara : *Italian Foreign Policy*

———— : *Russian Foreign Policy*

Walter, F.P.A. : *A History of League of Nations*

Williams, B.H. : *The United States and Disarmament*

Williams, D.A. : *American-Russian Relations*

Wheeler, Bennett, J.W. : *Disarmament and Security Since Locarno*

Wolfers, A. : *Britain and France Between two World Wars*

Wright, Q. : *The Mandate under the League of Nations*

———— : *The Study of International Relations*

Wu, A.K. : *China and the Challenges of Co-Existence*

Zimern, A.E. : *The League of Nations and the Rule of Law*

डी० एन० वर्मा : *भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ*

बाल कृष्ण : *भारत एवं इंग्लैण्ड के मध्य वाणिज्यिक सम्बन्ध*

Mukherjee, Radhakrishna : *The Rise and Fall of East India Company (1958)*

सफात अहमद खान : *East India Trade in Seventeenth Century (1923)*

एस० पी० सेन : *The French in India (1763-1816)*

अशोक मेहता : *1857*

आर० सी० मजूमदार : *The Mutiny and Revolt of 1857*

आर० सी० मजूमदार : *History of Feedom Movement in India*

एन० के० निगम : *Delhi in 1857*

ए० अप्पादोराइ : *Indian Studies in Social and Political Devolopment*

मदन गोपाल : *India as a World Power*

हरी राम गुप्ता : भारत पाकिस्तान युद्ध, 1965

जी० एल० जैन : *Panch-Sheel And After, (1960)*

जे० सी० कुन्द्रा : *भारत की विदेश-नीति (1947-54)*

के० एम० पनिक्कर : *The Foundation of India (1963)*

सुभाष चन्द्र बोस : *The Indian Struggle*
भारत स्वतन्त्रता संघर्ष

सुमित सरकार : *आधुनिक भारत, 1885—1945,* दिल्ली, 1983

यु० आर० घई : *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति सिद्धान्त एवं व्यवहार*

सत्या एम० राय (सम्पा०), *भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद* हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

दीनानाथ वर्मा : *अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध १६१६ से आज तक राजनयिक इतिहास* ज्ञानदा प्रकाशन पी० डी० नयी दिल्ली-२

रूद्र दत्त और के० पी० एम० सुन्दरम : *भारतीय अर्थव्यवस्था* एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी लि० रामनगर नयी दिल्ली-110055

बी० एल० फाड़िया : *अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति*

बिपिन चन्द्र : *Essays on Colonialism*, New Delhi

: *Nationalism and Colonialism in Modern India*, New Delhi, 1979.

: *The Colonial Legacy*

बिमल जालान (सम्पा०) : *The Indian Economy-Problems and Prospects*, New Delhi, 1992.

आदित्य मुखर्जी और मृदुला मुखर्जी : *'Imperialism and the Growth of Indian Capitalism in Twentieth Century'*, Economic and Political Weekly, 12 March, 1988.

आदित्य मुखर्जी, : *Imperialism, Nationalism and the Development of Indian Capitalist Class*,1920–1947, नयी दिल्ली

अतुल कोहली : *Politics of Economic Liberatisation in India*, World Development, खन्ड 17, अकं 3, 1989

इरफान हबीब : 'Colonialism and the Indian Economy', *Social Scientist,* March, 1975.

बी०बी० सिंह : *Economic History of India, 1857-1956*, Bombay, 1965

ज्यां द्रेजे और अमर्त्य सेन : *Economic Development and Social Opportunity*, New Delhi, 1996.

विजय जोशी और
आई . एम . डी . :*Little India : Microeconomics and Political Economy, 1964-91*, Washington, 1994.

समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं

अमृत बाजार पत्रिका	इलाहाबाद
अमर उजाला	इलाहाबाद, कानपुर
China Daily	बीजिंग
दैनिक जागरण	इलाहाबाद, बनारस
दिनमान	दिल्ली
Frontline	New Delhi
हिन्दुस्तान	लखनऊ
इन्डिया टुडे	नयी दिल्ली
जनसत्ता	नयी दिल्ली
New York Times	वांशिगटन
नव भारत टाइम्स	नयी दिल्ली
Organiser	नयी दिल्ली
आउट लुक	नयी दिल्ली
Out look	Ne w Delhi
Political India	New Delhi
राष्ट्रीय सहारा	लखनऊ
The Nation	Islamabad
The pioneer	New Delhi
The Asian Age	New Delhi
The Hindu	New Delhi
The Times of India	New Delhi
The Teligraph	New Delhi
The Illustrated Weekly of India	Mumbai